

CREATION

INTERDISCIPLINARY RESEARCH JOURNAL

Vol.II

No. 1

2011



Arya Mahila P. G. College. Chetganj, Varanasi

Admitted to the Privileges of Banaras Hindu University

ISSN 2231- 3923

CREATION

INTERDISCIPLINARY RESEARCH JOURNAL

Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi

Admitted to the Privileges of
Banaras Hindu University

Vol.II

No. 1

Jan-June 2011

Chief Editor & Principal
Dr. Rachana Dnhey

Editors

Dr. Uma Pant

(09839603224)

Dr. Brijbala Singh

(09452566218)

Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi

Tel No.: 0542-2411893

Fax : 0542-2401287

e-mail : ampgc.vns@gmail.com

Patrons
Dr. C. K. Mishra
Dr. Shashi Kant Dixit

Editorial Advisory Board

Prof. S.D. Mishra,
(Ex. V. C. Rajasthan Sanskrit University, Jaipur, Rajasthan)
Prof. R.C. Sharma
(Ex. V. C. Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi)
Prof. A. K. Chatterjee,
(Ex. Head - Deptt. of Philosophy & Religion, B.H.U. Varanasi)
Prof. Anand Prakash Tripathi
(Head Deptt. of Hindi Dr. Hari Singh Gaur Vishwavidhyalay, Sagar M.P.)
Prof. Harikesh Singh
(Faculty of Education, B.H.U. Varanasi)
Prof. Avinash Srivastava
(Deptt. of Philosophy, Nalanda University)
Prof. Radheya Shyam Dubey
(Head Deptt. of Hindi, B.H.U. Varanasi)

Bi-Annual Research Journal

© Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi

Printed by
Kabra Offset, Ravindrapuri, Varanasi.

Published by
SURUCHI KALA PRAKASHAN
B 23/45, Gha-A-S, Nai Bazar, Khojwan,
Varanasi, U.P. (INDIA)

Note : Scholars will be answerable to the contents of their articles.

हम सभी महामना की 150वीं जयन्ती 'ज्योति पर्व' के
रूप में मना रहे हैं।



सच्चरित्र व्यक्ति में मानव स्वभाव का सर्वोच्च
रूप दिखायी देता है। उसी में नैतिक विधान
अपना मूर्त रूप लेता है। वे ही किसी समाज की
नैतिक अंतरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सच्चरित्र
व्यक्ति ही एक सुव्यवस्थित समाज की उत्प्रेरक
शक्ति होते हैं, क्योंकि नैतिक मूल्य-मर्यादाओं से
विश्व का संचालन होता है। किसी देश की शक्ति,
उसके उद्योग-धन्य और आर्थिक क्षमता तथा उसकी
सभ्यता, ये सभी उसके सदस्यों के व्यक्तिगत चरित्र
पर निर्भर करते हैं। वही नागरिकों की सुरक्षा का
सशक्त आधार है। समाज की विधि व्यवस्था तथा
अन्य सामाजिक संस्थाएँ इसी आधार पर स्थापित
और विकसित होती हैं।

महामना मालवीय जी द्वारा 1911 में प्रकाशित काशी
हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रस्तावना के कुछ अंश

Editor's Note



It gives me immense pleasure that Arya Mahila P.G. College, is bringing out its inter disciplinary research journal since December 2010. It is a bilingual (English and Hindi) and biannual publication. It has been named *CREATION*, which means an action or process of bringing something into existence a thing made or invented showing artistic talent.

This journal would bring the cultural, social, educational, literary and philosophical view's of the contributors. We are extremely happy that Prof. Satya Dev Mishra, Ex Vice Chancellor of J.R.S. Sanskrit University, Jaipur and Prof. Radhey Shyam Dubey, Head, Department of Hindi, Banaras Hindu University and Dr. Rama Ghose, member of Managing Committee Arya Mahila P.G. College, Varanasi, have contributed articles in the present issue.

This issue of journal is dedicated to Mahamana Pandit Madan Mohan Malviya, a legendary founder of Banaras Hindu University. As the nation is celebrating 150 year's of his birth.

I express my heartiest congratulations and gratefulness to Dr. Uma Pant and Dr. Brijbala Singh the editors of the journal. I find it really appreciable that despite their several other commitments how, efficiently and coolly they handle the events and overcome a number of hurdles in the way, while bringing out the volumes of the journal. I request humbly to the readers and contributors of our journal to continue encouraging us with the supporting spirit. Each suggestion and comment for the improvement of the journal is always welcomed.

Chief Editor

Rachana Dubey

Volume II, 2011, June

Content

कबीर साहित्य में जीवन-मूल्य प्रो० राधेश्याम दूबे	1-10
गार्सा द तासी का हिन्दी प्रेम डॉ० बृजबाला सिंह	11-18
शलाका पुरुष : केदार नाथ अग्रवाल डॉ० मधु सिंह	19-24
नई विश्वव्यवस्था में साहित्य-सिद्धान्त के समक्ष चुनौतियाँ डॉ० वीना सुमन	25-29
लिंग पूजन परम्परा एवं शिवमहापुराण डॉ० सरोज रानी	30-37
मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक (सामन्ती) परिवेश में मीरा-भक्ति की दार्शनिक व्याख्या डॉ० श्रुति दूबे	38-43
निराला की सौन्दर्य चेतना डॉ० सुमन तिवारी	44-47
समकालीन हिन्दी कहानी में नारी का शोषित स्वरूप डॉ० अनुपम गुप्ता	48-51
तुलसी साहित्य में मानवीय मूल्य-मैत्री डॉ० नन्दिनी पाण्डेय	52-56
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एवं राष्ट्रीयता का उद्भव सुश्री पूनम	57-60
श्री अरविन्द का सर्वांगीण योग डॉ० सन्ध्या	61-67

गुरु साक्षात् परब्रह्म डॉ० ममता गुप्ता	68-74
वैदिक वाङ्मय एवं वाल्मीकि-रामायण में धर्म डॉ० अमरनाथ सिंह यादव, डॉ० श्रद्धा	75-80
21वीं शदी का हिन्दी बाल साहित्य : स्वरूप एवं समस्याएँ डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय	81-86
Impact of Ramayana on Indian Literatnre Prof. Satya Deva Mishra	87-93
Pañcāksara Mantra & Śaivism Dr. Rama Ghose	94-98
Can Science and Philosophy Meet? Some Reflection on the Science - Philosophy Interface. Dr. Uma Pant	99-107
Fahles in Sanskrit and French Literatnre Sragdhra Sharma	108-114
Dilemma of Ideal and Operational University Autonomy Dr. Namita Sinha	115-119
The Nature of Religion and its Impact on Human Beings K. Arti Srivastava	120-124
Women Chasing with men Dr. Uma Shanker Yadav	125-130
Psychosomatic Disorders and Psychosocial Factors A Review Dr. Krishna Kumari Verma	131-135
Foreign Direct Investment (F.D.I.) In Indian Retailing Dr. Vibha Singh	136-152

Impact of Globalization and Liberalization on India <i>Dr. Meena Singh</i>	153-159
The Significance of the Chattra and Chattras on a stupa <i>Dr. Ranjana Malviya</i>	160-167
Ancient India Literature <i>Dr. Usha Kala Upadhyay</i>	168-172
Predictors of Relationship of Teachers with Pupils, fellow teachers, Principals and parents dimensions of teacher effectiveness <i>Dr. Gurusangat Singh</i>	173-180
Acid Rain - Threat to life <i>Dr. Purnima Kumari Varshnay</i>	181-184
Political & Communal Unrest in Attia Hosain's Novel "Sunlight on a Broken Column" <i>Dr. Vipin Vihari Singh</i>	185-189

कबीर साहित्य में जीवन-मूल्य

प्रो० राधेश्याम दूबे

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संत कबीर का जीवन मानवता का प्रतीक बनकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। 'मसि कागज छूयो नहीं कलम गह्यो नहीं हाथ' को चरितार्थ करते हुए भी संत कबीर ने जो कहा है, वही उनका साहित्य है। वही उनका साहित्य है। उनकी रचनाओं का संग्रह 'बीजक' कहलाता है। जो साखी, सबद और रमैनी के रूप में विभक्त है। कबीर के बानियों के अनेक संग्रह मिलते हैं, जैसे — कबीर बीजक, कबीर ग्रन्थावली (संपा. बाबू श्यामसुंदर दास), कबीर वचनावली (संपा. हरि औध जी), कबीर ग्रन्थावली (संपा. डॉ. पारसनाथ तिवारी), कबीर (डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक में संकलित), कबीर बीजक (संपा. डॉ० शुकदेव सिंह), संत कबीर (डॉ० रामकुमार वर्मा), आदि आदि। इन सभी संग्रहों में कबीर के विचार बड़ी ही स्पष्टता से व्यक्त हुए हैं। किसी भी संग्रह की कोई बात कबीर की विचारधारा को संदेह के घेरे में नहीं प्रस्तुत करती है। कबीर साफ-साफ अपनी बात कहते हैं। सामाजिक जीवन को ही ध्यान में रखकर उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त किया है। भारतीय जीवन पद्धति निगमागम मूलक है। कबीर ने उस भारतीय जीवन पद्धति में से भक्ति का चयन किया है। वे कहते हैं कि 'भगति नारदी'। नारदीया, इहि बिधि भवतिरि कहै कबीरा'। नारदीया भक्ति को प्रेमाभक्ति कहते हैं। जिसमें प्रेम ही सबकुछ होता है, भक्ति प्रेमस्वरूपा होती है — 'सा त्वस्मिन् परम'। अमृतस्वरूपा च'। नारद के अनुसार भक्ति परमप्रेमरूपा है, वह अमृतस्वरूपा है। जिसकी प्राप्ति कर मनुष्य सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है। वह अनाकांक्षी हो जाता है। ईश्वर सर्वव्यापी है और उस ईश्वर में परमप्रेम ही भक्ति है। स्पष्ट है कि इस भक्ति का साधक ईश्वर के हर रूप से समभाव से प्रेम करता है। वह अभेद प्रेम करता है। राजा और रंक में भेद नहीं करता। 'साई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय'— इस उक्ति में कबीर का विश्वास है। चींटी और हाथी में छोटे-बड़े का भाव नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से कबीर ने भारतीय साधना को स्वीकार किया है। कर्मसाधना, ज्ञानसाधना, योगसाधना, और भक्ति साधना ये चार भारतीय साधना के भेद हैं जिनमें भक्ति साधना श्रेष्ठ मानी जाती है। इसीलिए भक्ति की साधना करने वाले भक्तकवियों के साहित्य में भक्ति का साथ कर्म, ज्ञान और योग का भी विवेचना मिलता है। वास्तव में कर्म, ज्ञान और योग भक्ति में पुष्ट होती है। कबीर की वाणी में इसीलिए भक्ति के साथ कर्म, ज्ञान और योग साधना की चर्चा मिलती है।

कबीर वास्तव में भक्त हैं। वे राम की भक्ति करते हैं। राम की भक्ति तो तुलसी भी करते हैं। किन्तु तुलसी के राम अवतारधारी दाशरथि राम हैं। कबीर के राम दाशरथिराम नहीं हैं — “ना दाशरथ घरि औतरि आवा, ना जसुदा के गोद खेलावा”। कबीर ने उपास्य के रूप में राम को अपना आराध्य माना है। गोविन्द, केशव, मालिक, प्रभु, अल्लाह, आत्मा, परमात्मा आदि नाम भी राम के बदले प्रयुक्त हुए हैं। राम या गोविन्द निर्गुण निराकार परब्रह्म के प्रतीक हैं जो अजम्मा हैं, सर्व शक्तिमान हैं, कृपालु हैं, समदर्शी हैं आदि। वस्तुतः भक्ति में चार बातें आवश्यक बतायी गई हैं— भक्ति, भक्त, भगवान और गुरु। कबीर की भक्ति में निर्गुण—निराकार राम को उपास्य के रूप में स्वीकार किया गया है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने संत कबीर को निर्गुण भक्ति प्रवाह का प्रवर्तक माना है। यों स्वयं कबीर ने निर्गुण भक्त के रूप में नामदेव का नाम आदर के साथ लिया है कबीर मूलतः भक्त थे। इस तथ्य की स्थापना आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने “कबीर” नामक अपनी पुस्तक में की है। भक्त रूप ही कबीर का वास्तविक स्वरूप है, वह केन्द्र बिन्दु है। अन्य बातें स्वयमेव प्रकाशित हो उठी हैं। भक्ति या भगवान के प्रति अहेतुक अनुराग की बात कहते समय उन्हें बहुत—सी बातें ऐसी कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं। भगवान् पर कबीर का अविचल अखण्ड विश्वास था। इसलिए उनका मानना है कि उनका हर धर्म का आदमी भगवान् पर इसी तरह विश्वास करता है। यदि आदमी वास्तव में धार्मिक है तो वह अपने भगवान् में विश्वास करेगा ही। इस भगवद् विश्वास से आदमी के मन में समता का भाव आयेगा। समता के भाव के कारण व्यक्ति ऊँच—नीच, छोटा—बड़ा, अमीर—गरीब, राजा—रंक, सुख—दुख, शीत—ताप, आदि के भेद से ऊपर उठ जायेगा। कबीर ने धार्मिक उसे माना है जो भगवान् में अखण्ड विश्वास करता है। बाह्य आचार—विचार, व्यर्थ कुलाभिमान पूजा का बाह्य विधि—विधान तीर्थ—व्रत, उपवास, जपमाला छापा—तिलक आदि मूलतः धर्म नहीं है। धर्म तो ईश्वर है मैं अगाध प्रेम और ईश्वर द्वारा निर्मित हर रूप में उस प्रेम को देखना। यह अहेतुक प्रेम ही कबीर की साधना का मूलाधार है। इस साधना के विरुद्ध कबीर ने जो कुछ समाज में देखा उसका विरोध किया और उस विरोधी कार्य से सम्बद्ध लोगों को उन्होंने डाँटा, फटकार लगाई, बुरा—भला कहा। इस सन्दर्भ में विवेक ज्ञान के लिए उन्होंने गुरु की महिमा की स्वीकृति को अनिवार्य माना। गुरु तो देवघर का उद्धार है, वह मानव को देवस्वरूप बना देता है — बलिहारी गुरु आपणें छौं हाड़ी के बार।/जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार।।

इसलिए गुरु की महिमा अनन्त है। अनन्त महिमा से युक्त गुरु शिष्य का अनन्त उपकार करता है, शिष्य की सांसारिक दृष्टि को प्रशस्त बना देता है, अनन्त कर देता है और अन्त में अनन्त तत्त्व का साक्षात्कार करा देता है। मनुष्य अपने सीमित संसार में विचरण करता है जहाँ वह लोक और वेद को साथ—साथ लेकर चलने का प्रयास करता है। गुरु लोक और वेद दोनों का अतिक्रमण करता है। वह आगे बढ़कर शिष्य को ज्ञान

दीपक थमा देता है। जिसे लेकर शिष्य लोक और वेद के मध्य से भी अपना मार्ग खोज लेता है — पीछें लागा जाइ था, लोक—वेद के साथि।/आगैं थैं सतगुरु दीपक दीया हाथि।।

लोक और वेद के झमेले आदमी को संकटग्रस्त कर देते हैं। किन्तु गुरु के मार्ग से व्यक्ति संकटमुक्त हो जाता है। संसार सागर की अत्ताल तरंगे आदमी को व्यस्त कर देती है। इस अस्त व्यस्तता से मुक्ति के लिए गुरु ने एक उपाय बताया। शरीर को चौसर बनाकर उसमें प्रेम का पासा खेलो—“पासा पकड़या प्रेम का, सरीर किया सरीर।” संत कबीर ने प्रेम तत्त्व को संपूर्ण जीवन का सास्तत्त्व माना है। लोक और वेद की वह स्थिति जो बोझ प्रतीत होती हो, मनुष्य को जड़ बना देती है, प्रेम के प्रेम से वंचित कर देती है। कबीर कहते हैं कि पंडित वही है जिसने प्रेम का पद पड़ा लिया है। शास्त्र अध्ययन का मूलाधार प्रेम ही है। केवल पोथी पढ़ने से व्यक्ति हो जाता है, पत्थर हो जाता है— पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया ईट।/कहै कबीर प्रेम की, लगी न एको छीट।।/पोथी पढ़ि पढ़ि जग पंडित भया न कोय।/ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने “कबीर” नामक अपनी पुस्तक (पृ. संख्या 190) में लिखा है—“यह प्रेम ही सब कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, मस्जिद नहीं, मन्दिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, नबी नहीं, पीर नहीं, पैगम्बर नहीं। यह प्रेम समस्त बाह्यचारों की पहुँच के बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारों के आधार से कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इस रास्ते में खड़ा होता है वह हेय है “उन्होंने संसार प्राणों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति अस्वीकार और अधिकार—भेद की कल्पना करके इनके लिए भी दुनिया के मान—सम्मान का आधार बना कर जाने को उन्होंने बेकार परिश्रम समझा। उन्होंने एक अल्लाह निरंजन प्रेम को प्रति लगन को ही अपना लक्ष्य घोषित किया। इस लगन या प्रेम का साधन प्रेम ही है और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रेम ही साध्य प्रेम ही साधन, व्रत भी नहीं, मुहर्रम भी नहीं, पूजा भी नहीं, नमाज भी नहीं, हज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं”-

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरुक दुहूँ नहिं मेरा।/राखूँ व्रत न निरंजन जाना, तिसही सुमिरूँ जो रहै निदाना।/पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, निराकर हिरदै नमसकारूँ।/नां हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक पिछारयां पूजा।/कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन—सूँ मन लागा।।

संत कबीर मनुष्य से मनुष्य के मिलन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। इसीलिए सभी प्रकार के बाह्यचारों को अस्वीकार कर दिया और मनुष्य को मनुष्य के मिलन का उपक्रम किया। उनका भगवान भी सबका भगवान है। वह किसी धर्म से बांधा नहीं है। वह निरपेक्ष न होकर जाति, वंश, कुल पंथ, संप्रदाय, धर्म और मजहब

से अलग है। वह असीम और अनन्त होकर भी सर्वत्र है, वह अखण्ड होकर भी घट-घट वासी है। इससे स्पष्ट है कि संत कबीर की इन मान्यताओं के पीछे उनका प्रेमतत्त्व ही मुख्य है। जो बिना खरीदे मिल सकता है। प्रेम तो समर्पण खोजता है, जो अभिमान का त्याग कर देता है। वह प्रेम को प्राप्त कर सकता है—प्रेम न खेतों नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ। राजा परजा जित रूचै, सिर दे सो ले जाई॥

जाहिर है कि कबीर का जीवन प्रेम का जीवन है, और यही मनुष्य का जीवन है। प्रेम मनुष्य को मनुष्य बनाता है। मनुष्य जब मनुष्य के रूप में स्वीकार करता है, तभी वह वास्तव में मनुष्य है। मानव मिलन की यह साधना ही कबीर की साधना का मूलाधार है, यही जीवन का सत्य है। और यही जीवन का मूल्य भी है। कबीर की वाणी का अध्ययन—मनन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर किसी “भेद-भाव” को स्वीकार नहीं करते हैं। राम और रहीम में कोई भेद नहीं है। प्रेमी साधक के लिए तो दोनों एक ही हैं—‘एकमेवाद्वितीयम्’। परमात्मा तो एक है, भले ही हम उसे ‘राम’ कहें अथवा ‘रहीम’ कहें। बाह्यार से इनकी प्राप्ति नहीं होती है। सच्चा मन ही सच्चे राम का साक्षात्कार करता है। कबीर मुल्ला से पूछते हैं कि तुम उस परमात्मा को दूर समझकर पुकार रहे हो? इस तरह उसे पुकारना उचित नहीं है, क्योंकि यह सारा संसार ही राम और रहीम से ओत-प्रोत है। अन्तरात्मा की पुकार को वह सुनता है—

मुलौ कहाँ पुकारै दूर।/राम रहीम रहया भरपूर।।/यह तौ अहल गूँगा नाँहि, देखै खलक दुनीं दिल माँही।/हरि गुन गाइ बंग मै दीन्हौं, काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हौं।।/कहै कबीर यह मुलना झूठा, राम रहीम सबनि में दीठा।।

सिरजनहार तो एक है जिसने एक ही मिट्टी से सबको बनाया है, एक ही ज्योति से सभी ज्योति है। फिर तो परम ज्योति परमात्मा का प्रकाश ही सभी जीवों में प्रकाशित है—“एकै पवन एक ही पानी, एक ज्योति संसारा। एक ही खाक घड़े सब भाँड़े, एक ही सिरजनहारा।” सिरजनहार को एक मानकर उसकी एकता को संपूर्ण सृष्टि के साथ एक कर देना कबीर का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रेम ही साधन है। प्रेमरूप परमात्मा का साक्षात्कार होने पर अनेकता में एकता के दर्शन होने लगते हैं। और उस एकता के दर्शन में असीम आनन्द की अनुभूति होने लगती है। संसार के बाह्यार इस आनन्द में बाधा डालते हैं। इसीलिए कवि ने वेदशास्त्र किताब और कुरान, पंडित, पुरोहित, मुल्ला और काजी, तीर्थ और व्रत, हज और नमाज, टीका और जनेऊ, खून और खतना आदि हिन्दु मुस्लिम के झमेले से अलग राम और रहीम की एकता की बात की। वे राम की मस्ती में मस्त हो गए। नयनों में राम रम गया। तो अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं है। राम के प्रति अनन्यत मुख्य भाव है। गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, मन तो एक है और वह एक मन भी श्याम के पास चला गया। उस दशा में आपके दूसरे ईश्वर को कौन मन स्वीकार कर—“ऊधो मन न भये दसबीसा। एक हूँ तो

सो गयो स्याम संग, को आराधै ३ पा”। संत कबीर भी ऐसे कहते हैं कि सती की सिन्दूर-रेखा के बदले काजल नहीं दिया जा सकता और जब नयनों में राम रम गया है तो दूसरा उसमें रम नहीं सकता—“कबीर रेख सिन्दूर की, काजल दिया न जाइ, नैन रगइया रमि रहया, दूजा कहाँ समाइ।” कबीर के मन का राम में रमना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राम में रमना प्रेम और समता का जीवन जीना ऐसा जीवन जीना आसान नहीं है। यह वीर का काम है, कायर ऐसा नहीं कर सकता है—

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।

सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम।।

हरि का नाम लेना बाहरी दिखावा नहीं है, वह तो अन्तर मन रूप है जो बाहरी संसार में समता, एकता बराबरी और प्रेम के रूप में दिखाई देता है। कबीर राम के इसी स्वरूप में विश्वास करते हैं, तभी तो वे कहते हैं कि राम का सौदा सिर देकर ही हो सकता है। साई राम ‘सैंत’ (मुफ्त) में मिलने वाले नहीं हैं—साई सैंत न पड़ये, बातों मिलै न कोय।/कबीर सौदा राम सौं, सिर बिन कदै न कोय।।

स्वामी रामानन्द द्वारा कबीर को राम का गुरुमंत्र मिला था जिसका सार—तत्त्व है—“हरि को भजै सो हरि का होई।” कबीर ने राम की प्रेमभक्ति का अमृतस्वाद चख लिया था, इसलिए अमृत हो गये थे, तृप्तकाम होकर मुक्त काम हो गये थे। ऐसा साधक सब के आनन्द में मग्न होकर सारे लोक के आनन्द को अपने में समाहित कर लेगा। जन-जन का आनन्द राम का आनन्द है, जन-जन की पीड़ा राम की पीड़ा है—ऐसा महाभाव को धारण करने वाले कबीर राम की भक्ति करते हैं। इसीलिए तो वे संसार की दुख को देखकर दुखी होते हैं, उसके उलटे रूप को देखकर फटकार लगाते हैं जिससे मुल्ला और पंडित दोनों बच नहीं पाते। वे दोनों का उपहास करते हैं—ना जानै तेरा साहब कैसा है।/मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है?/चिउंटी के पग नेवर बाजै, सो भी साहब सुनता है।।/पंडित होय के आसान मारे, लम्बी माला जपता है।/अन्तर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब जखता है।।

कबीर की भक्ति में सब कुछ समाहित है। ज्ञान से पुष्ट होकर तथा योगयुक्ति से साजिजत होकर कबीर की भक्ति निष्काम कर्म के रूप में संसार में प्रकट होती है—“जोग जुगति करि संतौ बाँधी, निरचू चुवै न पाणी।” कबीर को अभिमान है तो राम की भक्ति का अभिमान है, किन्तु वह भी सेवक भाव के रूप में—“कबीर कूता राम का, गुतिया मेरा नाउँ; गले राम की जेवरी, जित खँचों नित जाउँ।” संसार कापी चादर को ओढ़कर भी उसे उन्होंने गंदा नहीं किया; उन्होंने सुन रखा था कि सूर-गुनियों ने इस चादर को ओढ़कर गन्दा कर दिया; किन्तु—“दास कबीर जतन से ओढ़ी, जस की तस घर दीन्हौं चदरिया।” इस संसार में रहकर भी इसके प्रभाव से मुक्त रहना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यही तो संसार का समतत्त्व है। कबीर मानव हैं

और मानव बने रहने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। मानव को अभिमान रहित होना चाहिए। ऐसा मनुष्य ही भक्त कहलाता है और भक्त तो भगवान् के समान होता है — “कहै कबीर जिनि गया अभिमाना, सो भगता भगवंत समाना।” कबीर मूलतः भक्त हैं। भक्त को भगवान् सर्वाधिक प्रिय हैं। भगवान् के प्रति यह अनन्यता का भाव गुरु की कृपा से सुलभ हुआ है — “बलिहारी गुरु आपनो जिन गोविन्द दियो बताय।” गुरु प्रिय है, गुरु का ज्ञान प्रिय है तथा उसके द्वारा प्रदन्त गोविन्द भी प्रिय है। प्रियतम की हर वस्तु प्रिय होती है, मोहन होती है, आकर्षक होती है। सारा संसार उसी गोविन्द का ‘पसारा’ है। जल में कुंभ की तरह यह संसार है — “जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।” सृष्टि का हर रूप गोविन्द से परिपूर्ण है। इसलिए कबीर को सृष्टि का सब कुछ प्यारा लगता है।

संत कबीर वास्तव में मानवतावादी हैं। यों तो कबीर किसी वाद के पोषक नहीं हैं; फिर भी सारे वादे-प्रतिवादों में उन्हें मनुष्यता अच्छी लगती है। यह मनुष्यता भी भक्ति की ही देन है। भक्तिसाधना व्यक्तिनिष्ठ साधना है। यह व्यक्तिसाधना प्रेम का स्पर्श पाकर समष्टि की साधना हो गई। स्वामी रामानन्द ने भक्ति के समष्टि स्वरूप को ही प्रचारित प्रसारित किया था। कबीर ने भक्ति के इसी सामाजिक स्वरूप को स्वीकार किया था। राजा राम को ‘भरतार’ के रूप में स्वीकार करना इसी कारण था। पुरुषों में पुरुषोत्तम राम का यही स्वरूप है। कबीर को मानव की मानवता भली लगती है, इसीलिए उन्होंने नर में नारायण की कल्पना की। नर में नारायण की अवधारणा जहाँ भी खण्डित हुई, कबीर ने उसे डाँटा, फटकारा, बुरा-भला कहा। व्यवसाय और कामकाज, विविध पेशों और धन्धों के कारण भी समाज में छोटे-बड़े की कल्पना थी। कबीर ने इस कल्पना को तोड़ा। कपड़ा बुनने का काम, जुलाहे का काम छोटा माना जाता था, पर इस छोटे काम को भी कबीर ने गर्व के साथ अंगीकार किया — तू बाह्यन मैं कासी का जुलाहा।/मेरे राम की अभयपद नगरी, कहे कबीर जुलाहा।/जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि हरषि गुण रमै कबीर।

जुलाहे माता-पिता द्वारा पालित-पोषित होना, जुलाहे का कर्म करना कबीर के समय में सम्मानजनक नहीं था। कबीर ने इसे स्वीकार करके यह बता दिया कि कोई भी मनुष्य वर्ण, जाति, कुल-वंश, धर्म, पंथ के आधार पर छोटा या बड़ा नहीं हो सकता। मानवता आदमी को बड़ा बनाती है पर दुःख-कातर व्यक्ति ही समाज में बड़ा होता है, वही धनसंचय नहीं करता है। वह तो चाहता है कि ‘साई इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय, मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।’ समाज के दुख को देखकर कबीर दुखी रहते थे — सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।/दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाली पद्धति को कबीर ने अस्वीकार कर दिया था। जन्मजात कोई जाति बड़ी नहीं होती है। ब्राह्मण और शूद्र के भेद को कबीर

ने नहीं माना। जन्म से भी कोई मुसलमान नहीं होता है। एक भक्त होकर भी कबीर ने कटु भाषा का प्रयोग किया —

जौ तूँ बाँभन बाँभनी। तौ आन बाट है क्यों नहिं आया॥

जौ तूँ तुरक तुरकनी जाया। तौ भीतर खतना क्यों न कराया॥

कबीर ने बाह्याडंबर का इसीलिए विरोध किया था कि उससे मनुष्य के मन में भेद उत्पन्न होता है। नर में ही नारायण का निवास होता है, इसलिए ‘नर’ की समता बनी रहनी चाहिए। अनेक पंथ, मजहब, ढकोसले, अन्धविश्वास, रुढ़ि, पोथी-पतरा, शास्त्र, कुरान आदि नर के नारायण स्वरूप की व्याख्या न करके उसके भेदकरूप को ही उजागर करते हैं। इसलिए संत कबीर ने इनके प्रति कठोर रुख अपनाया। घट-घट व्यापी परमात्मा ही सबका स्वामी है, उसी से सबकी उत्पत्ति हुई है। वह ज्योतिस्वरूप है, उसे सभी जीव उसके स्फुलिंग हैं —

एक बूंद एक मल मूतर, एक चाम एक गूदा।

एक जोति तैं सब ऊपजा कौन बाह्यन कौन सूदा॥

प्रेम के पुजारी होकर भी कबीर ने कठोर भाषा में पंडितों, मुल्लाओं आदि पर प्रहार किया था। जातिवाद, वर्णवाद, वंशवाद, धर्मवाद, पंथवाद आदि पर उन्होंने अचूक प्रहार चलाए जिससे विद्व होकर सभी मतवादी धराशायी हो गये। संत कबीर का सम्पूर्ण साहित्य मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के प्रयास से ओत-प्रोत है। मानव जीवन की सार्थकता मानवता की स्थापना में ही है जिसके लिए कबीर ने स्वामी रामानन्द के सिद्धान्त से पुष्ट भक्ति को स्वीकार किया, अपने जीवन में अपनाया और अपने साहित्य में उसे अभिव्यक्त किया। नर में नारायण को मानना कबीर के जीवन का परममूल्य है। नर ही नारायण है। गोस्वामी तुलसीदास की बात भी यहाँ ध्यान देने योग्य है — “सीय रामाय सब जगजानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।” इस दशा में हर नर नारायणस्वरूप है, फिर तो भेद की कोई बात ही नहीं उठती है। राम सब में समान रूप में विद्यमान है। कबीर कहते हैं कि जब से मैंने आत्मतत्त्व को समझा लिया, तब से सब प्रति भेद-भाव समाप्त हो गया। तत्त्व की दृष्टि से सभी एक हैं — जब थैं आतम तत्त बारा।/तब निर बैर भया सबहिन थैं, काम क्रोध गहि डारा॥/व्यापक सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।/रायों राव कवन सँ कहिए, कवन को रोगी॥/इनमें आप आप सबहिन मैं, आप आपसँ खेलै।/नाना भौंति सब भौंड़े, रूप धरे धरि मेलै॥/सोचि बिचारि सबै जग देखा, निरगुन न बतावै।/कहै कबीर गुनी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै॥

संत कबीर आत्मा को राम के रूप में स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि इस रूप में ही परमात्मा का निवास है, आत्मा ही राम है, आत्मा ही ईश्वर है। बिना श्रद्धा के ईश्वर में जाना और देवों को फूल-माला चढ़ाना व्यर्थ है। जो मनुष्य प्रेम से ईश्वर

का स्मरण करता है वह इस आत्मा रूप राम को अथवा ईश्वर को अथवा परमात्मा को क्षण भर में पहचान लेता है -

कौन बिचारि करत हौ पूजा./आतमराम अवर नहिं दूजा।/बिनु परतीतैं पाती तोरे, ग्यान बिना देवलि सिर फोरै।/लुचरी लपसी आप सँघारै, द्वारे ठाढ़ा राम पुकारै।।/पर आतम जौ तत्त बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै।

मनुष्यता ही संत कबीर का धर्म था जो उन्हें राम की भक्ति से प्राप्त हुई थी और यह भक्ति प्रेम मार्ग पर लगातार अग्रसर होने से पुष्ट हुई। वास्तव में प्रेम ही तो भक्ति है, प्रेम राम से हो अथवा उसके बन्दे से—बात तो एक ही है। हर जीव में राम है, इसलिए हर जीव कबीर को प्रिय है। जब अपना प्रियजन दुखी होता है तो कबीर दुखी हो उठते हैं - "दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।" यही कबीर की जीव से समानता है, एकरूपता है, मनुष्यता है, नर में नारायण की प्रतीति है और नारायण में नर का दर्शन है। संत कबीर मानते हैं कि मनुष्य को राम की भक्ति में ही सुख मिल सकता है और यदि कहीं दूसरे लोगों के साथ संतोष की सम्भावना हो सकती है तो वह भी केवल प्रेम के साम्राज्य में ही। कबीर के साहित्य का यही लक्ष्य है, यही उसका जीवन-मूल्य है। प्रेम का राज्य, ही ऐसा राज्य है जहाँ कोई भेद नहीं होता। प्रेम के राज्य में सभी जन प्रिय हैं। यह प्रेम का राज्य रामराज्य है जिसकी प्राप्ति कर कबीर प्रसन्न हो उठते हैं। वे कह उठते हैं - "अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे, ज्यों भावै त्यों होहु हमारे।" फिर तो कबीर प्रेम का प्याला पीकर मस्त हो गये हैं, प्रेममय हो गये हैं, राममय हो गये हैं, इसलिए गूँगे के गुड़ की दशा उनकी हो गयी है - अकथ कहानी प्रेम की, कछु कही न जाई।/गूँगे केरि सरकरा, बैठे-बैठे मुसुकाई।।

इस अनन्यता की दशा में राम के समान कबीर को सब कुछ प्रिय है। इस प्रियता के लिए जो साधक है, कबीर उसे स्वीकार करते हैं। यदि मूर्ति से भी इस सर्वजन प्रियता की आराधना करे निर्गुणोपासक नामदेव ने उन्हें अपने वश में कर लिया था। सहज ढंग से प्रसन्न मन होकर नामदेव मंदिर के द्वार पर आए थे, किंतु पंडितों ने नामदेव को अछूत कहकर मंदिर के सामने कीर्तन करते समय हटा दिया था और शूद्र नामदेव को मंदिर के पीछे चला जाना पड़ा था। किंतु कहते हैं कि नामदेव की भक्ति के कारण मंदिर का द्वार भी घूम गया था और मंदिर का पिछवाड़ा पंडितों की ओर हो गया -

हैंसत बोलत तेरे देहुरे आया। भगति करत नामा पकरि उठाइया।।/हीनडी जात मेरी जादम राइआ। छीपे के जनमि काहेकउ आइआ।।/लै कमली चलिउ पलटाइ। देहुरे पाछै बैठा जाइ।।/जिउ जिउ नामा हरिगुण उचरै। भगत जनांकउ देहुरा फिरै।।/आलावंती इहु भ्रम जोहै, मुझ ऊपरि समु कोपिला।/सूदु सूदु करि मारि उठाइउ, कहा करउ बापु बीदुला।।/मूए हुए जउ मुकति देहुगे, मुकति न जानै कोइला।/एपंडीआ मोकउ डेढ कहत, तेरी पैज पिछंडी होइला।।/तूजु दइइआलु क्रिपालु

कहीअउ है, अतिभुज भइउ अपावला।/फेरि दीआ देहुरा नामेकउ, पंडीअन कउ पिछवारला।।

इस घटना ने संत कबीर को प्रभावित किया था। संत कबीर ने कहा कि मैं वेद नहीं जानता हूँ, भेद नहीं जानता हूँ, मैं केवल राम को जानता हूँ। वेद से भेद का जन्म होता है और राम को जान लेने पर भेद समाप्त हो जाता है। राम को जान लेने के कारण ही मंदिर का द्वार संत नामदेव की ओर हो या था और मंदिर का पीछवाड़ा पंडितों की ओर हो गया था - वेद न जानूँ, भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रामा।/पंडित दिसि पछिवारा कीन्हा, मुख कीन्हीं जित नामा।।/राजा अंबरीक के कारणि, चक्र सुदरसन जारै।/दास कबीर कौ ठाकुर ऐसी, भगत की सरन उबारै।।

संत कबीर ने एक और पद में अन्य भक्तों के साथ संत नामदेव का नाम आदर के साथ लिया है। सभी रंक हैं, केवल ईश्वर ही दाता है जिसकी अभेद कृपा विप्र सुदामा, जयदेव और नामदेव पर हुई है - माँगौं काहि रंक सभ देखौं, तुम ही तैं मेरो निस्तार।/जैदेउ नामां विप्र सुदामां, तिनकाँ क्रिया भई है अपार।/कहै कबीर तुम समरथ दाता, चारि पदारथ देत न बार।।

संत कबीर का यह अद्वितीयरूप मनन करने योग्य है। जो तथ्य उनकी परख में खरा उतरा, उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। पंढरपुर के बिहल भगवान् के प्रति नामदेव द्वारा आस्था व्यक्त करने के कारण की यह संभव हो सका। सच्ची लगन और आस्था से पत्थर की मूर्ति भी सजीव हो उठती है - नामदेव के इस साक्ष्य को कबीर ने माना। इसलिए कबीर ने बड़े आदर के साथ विप्र सुदामा और जयदेव के साथ संत नामदेव का नाम लिया है। संत कबीर की भक्ति के संदर्भ में नाभादास का कथन भी ध्यान देने योग्य है। जो धर्म भक्ति के विरुद्ध है, उन सब को कबीर ने अधर्म कहा है अर्थात् कबीर की दृष्टि में भक्ति विरोधी धर्म आचरणीय नहीं है। योगसाधन, व्रत, दान आदि सभी भक्ति के बिना तुच्छ और निरर्थक हैं। उनकी भक्ति के वचनों में पक्षपात के दर्शन नहीं होते हैं। कबीर एक ऐसी भक्ति पद्धति के समर्थक हैं जो सबका हित करने वाली है। रमैनी, सबदी और साखियों में हिन्दू, तर्क सभी के लिए प्रमाण उपलब्ध हैं। ज्ञानगुणगान करने वाली रमैनियाँ, गुरुपदेश का गायन करने वाली सबदियाँ तथा ज्ञानभजन या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से साक्षीकृत वचन या साखियाँ ही कबीर की दृष्टि में आध्यात्मिक हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संत कबीर ने शास्त्रों और श्रुतियों को, बिना अनुभव द्वारा प्रमाणित हुए, प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया। वर्ण, आश्रम और जातिभेद आदि यदि भक्ति के उपकारक, सहायक नहीं हैं, बाधक हैं, तो उनकी मर्यादा को पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं है - भक्ति बिमुख जो धर्म सुसब अध करि गायो।/योग यज्ञ व्रत दान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो।/हिंदू तुरक जात रमैनी सबदी साखी।/पक्षपात नहिं बचन सबन के हित की लाखी।/कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षअ दर्शनी।।

धर्म से मानवता का पोषण होता है और यह मानवता ही कबीर का काम्य है। यही सभी धर्मों, पंथों, सम्प्रदायों आदि का लक्ष्य है। कबीर की भक्ति मानवता की साधक है। इसलिए जो भी कथन, व्यवहार, पूजा-पाठ, व्रत, रोजा-नमाज आदि भक्ति के विरुद्ध हैं वे सभी मानवता के भी विरोधी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य का इतिहास में स्पष्ट रूप से कहा है कि कबीर ने राम रहीम की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। इतना ही नहीं, आचार्य शुक्ल ने साफ ढंग से कहा कि देशाचार और उपासना विधि के कारण मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल भी संत कबीर की मनुष्यता के पोषण के भाव को स्वीकार करते हैं। वास्तव में कबीर की साधन का यही लक्ष्य है। यही जीवन मूल्य है जो कबीर साहित्य में विविध रूपों में व्यक्त हुआ है। इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मनुष्यता का पोषण ही कबीर साहित्य में जीवन मूल्य है जो राम की भक्ति से ही संभव है। कबीर की दृष्टि में राम का भक्त भेदयुक्त कर्म और वाणी में विश्वास नहीं करता है। कबीर की दृष्टि में राम का भक्त भेदयुक्त कर्म और वाणी में विश्वास नहीं करता है। बाह्याडंबर, ढकोसला, तीर्थ-व्रत, नमाज-रोजा, हज और कुर्बानी, पूजा-पाठ, मंदिर-मस्जिद आदि भक्ति के लिए आवश्यक नहीं हैं। राम के साथ सहज प्रेम ही भक्ति है और वही सहज प्रेम सब में होना चाहिए। यही जीवन की सहजता है जो मन, वाणी और कर्म की एकता में दिखाई देती है। इसीलिए संत कबीर ने कहा भी है -

‘सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।

जिन्ह सहजै हरिजी मिलै सहज कहीजै सोइ॥’

जीवन की सहजता ही जीवन का प्रकृत स्वरूप है जिसके माध्यम से राम का साक्षात्कार हो सकता है और उसके बाद सब कुछ राममय हो जाता है, राममय होकर प्रेममय हो जाता है, अभेद हो जाता है, मुक्तकाम होकर आत्मकाम हो जाता है, अनाकांक्षी हो जाता है। संत कबीर का यही लक्ष्य है जो साखी, सबद और रमैनी में वाणीमय हो उठा है। समाज में भेद उत्पन्न करने वाले रूपों को देखकर कबीर कठोर हो उठते हैं; किंतु उनकी कठोरता नारियल की कठोरता है जो ऊपर से कड़ा और कठोर है तो भीतर से प्रेमजल से परिपूर्ण है। यही कबीर का मानव जीवन है जो मानव को मानव समझता है और मानव सहित सारे जीव समुदाय को राममय मानकर सामाजिक जीवन जीता है।

गार्सा द तासी का हिन्दी प्रेम

डॉ० बृजबाला सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी

इतिहास लेखन एवं अनुवाद गद्य की दो महत्वपूर्ण विधाएं हैं। इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। शक्ति है। किन्तु जब ये दोनों एक दूसरे की पूरक बन जाती हैं तब अविस्मरणीय एवं अमिट प्रभाव छोड़ती हैं। हिन्दीतर भाषाओं में किये गये लेखन कार्य हमारे ज्ञान को समृद्ध बनाते हैं, जिसमें अनुवादकर्ता की महनीय भूमिका होती है। यह बात सर्वविदित है कि इतिहास लेखन की परम्परा का सूत्रपात फ्रांसीसी लेखक गार्सा द तासी ने किया था। ग्रन्थ का नाम है ‘इस्त्वार द ल लितेरत्यूरे ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी’ (हिन्दुई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास) जो हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा को सूत्रबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयास था। इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी साहित्य, हिन्दी भाषा तथा हिन्दी जगत का जो उपकार हुआ है वह अविस्मरणीय है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का जहाँ एक ओर आधुनिकता के बीजारोपण की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है वहीं दूसरी ओर साहित्य के इतिहास निर्माण की दृष्टि से भी यह शताब्दी उल्लेखनीय है। तासी, सेंगर और ग्रियर्सन की कृतियों (क्रमशः 1983, 1877, 1886) का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ था। उनमें से फ्रांसीसी लेखक गार्सा द तासी कृत फ्रेंच भाषा में लिखित ‘इस्त्वार द ल लितेरत्यूरे ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी’। हिन्दुई और हिन्दुस्तानी का अपना विशेष स्थान है।

हिन्दी साहित्य के सभी आलोचकों तथा इतिहासकारों ने इस ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जिन परिस्थितियों में यह ग्रन्थ लिखा गया था, आधारभूत कोई सामग्री उपलब्ध नहीं थी। इसके पूर्व केवल दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, ‘भक्तमाल’ इत्यादि ग्रन्थों में कवियों का जीवनवृत्त है, ऐतिहासिक दृष्टि नहीं। ये उल्लेख प्रायः दो प्रकार से हुए हैं एक तो स्वयं कवि द्वारा दूसरे तटस्थ पर्यवेक्षक द्वारा। स्वयं कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में भास, सौमिल्ल आदि का नाम लिया है। इसी प्रकार हिन्दी में जायसी ने भी पुरातन प्रबन्धकारों का उल्लेख किया है। तटस्थ पर्यवेक्षक द्वारा कवि वृत्त संग्रह का यत्न ‘भोज प्रबन्ध’ आदि के द्वारा भी हुआ है। पर वहाँ भी स्पष्ट है कि लेखक केवल कुछ कवियों के नाम पर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाना चाहता है। कुछ इतिहास नहीं। इससे कहीं अधिक उत्तम प्रयत्न नाभादास और गोकुलनाथ का कहा जा सकता है, भले ही उनकी दृष्टि धार्मिक रही हो। इनमें साहित्य प्रगति का निर्देश नहीं है पर कवियों के व्यक्तित्व एवं कवित्त की विशेषताओं पर अवश्य प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार छिटपुट यत्न बाद तक होते रहे पर वे इतिहास नहीं हैं। हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास हिन्दुस्तान में नहीं, सात समुन्दर पार बैठकर गार्सा द तासी ने फ्रांस में लिखा था।

तासी के इतिहास लेखन की प्रशंसा वांछनीय है। शिवसिंह सेंगर ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है 'मुझको इस बात को प्रकट करने में कुछ संदेह नहीं है कि ऐसा संग्रह कोई आज तक नहीं रचा गया।' तासी ने कवियों की कविताओं का संग्रह तो नहीं दिया किन्तु कवियों के जीवन चरित्र, सन्, संवत्, जाति, निवास-स्थान आदि उनकी रचना से छः वर्ष पूर्व द्वितीय बार तासी द्वारा प्रस्तुत किये जा चुके थे। तासी के इतिहास ग्रन्थ से सम्भवतः हिन्दी संसार सन् 1936 में परिचित होने लगा था क्योंकि इसी वर्ष की 'सुधा' पत्रिका में डॉ० उदय नारायण तिवारी ने महाकवि चंद के विषय में तासी द्वारा उल्लिखित विवरण का अनुवाद प्रस्तुत किया था। सन् 1938 में डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा। इस ग्रन्थ में तासी के ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है और उसे 'कवि' के नामों का सबसे पहला संग्रह तथा 'इतिहास' के रूप का आभास मात्र देने वाला कहा गया है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रन्थ के परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण में तासी के 5 दिसम्बर सन् 1852 के वक्तव्य का हवाला हिन्दी और उर्दू की युगपत् सत्ता सिद्ध करने के लिए दिया है। इस महान साहित्यिक प्रयास का अनुवाद डॉ० लक्ष्मी सागर वाष्णीय ने किया जो हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ तथा जिसकी भूमिका लिखी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने। इस ग्रन्थ का नाम है 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास।' इसमें 358 कवियों और लेखकों का वर्णन है। जिनमें 47 संस्कृत, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू एवं अन्य भाषाओं के हैं। 14 तासी की मिथ्या दृष्टि है। 77 साहित्यकार न होकर ज्योतिष या धार्मिक कर्मकाण्ड के पक्षधर हैं। विशुद्ध साहित्यकार केवल 220 हैं जिनमें 160 चर्चित हैं और 60 को मुश्किल से साहित्यकार कहा जा सकता है।

इस महान साहित्यकार का जीवन परिचय एवं उपलब्धियों की चर्चा करके ही उनका विनम्र स्मरणीय योगदान बताया जा सकता है। उनका पूरा नाम है—जोसेफ हेलिओदार सेजेसे गासने डे टेसी जिसे संक्षेप में 'गार्सा द तासी' के नाम से जाना गया। इस फ्रांसीसी विद्या विशारद का जन्म 25 जनवरी सन् 1794 में फ्रांस में हुआ। इन्होंने 'सिलवतर द सेसी' नामक संस्था से पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा प्राप्त की। वहीं पर राजकीय स्कूल में प्रचलित पूर्वीय भाषाओं के अध्यापक थे। 1822 में 'सोसिएते एसियाटिक सोसायटी' के मंत्री के रूप में एक रचना प्रकाशित किया। 1828 में पूर्वीय भाषा के प्रोफेसर नियुक्त हुए।

तासी संस्थाओं — फ्रांसीसी इंस्टीट्यूट आफ पेरिस, लन्दन, कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई की एसियाटिक सोसाइटियों के सदस्य थे। सेंट पीटरबर्ग की इम्पीरियल एकेडेमी नॉर्वे, कोपेनहेगन, अमेरिका के ओरियण्टल, लाहौर के अंजुमन, अलीगढ़ के इंस्टीट्यूट ने इन्हें अपनी सदस्यता प्रदान की थी। इन्हें 'नाइट आफ दी लिजियन आफ ऑनर' (फ्रांस) 'स्टार आफ द साउथ पोल' जैसी उपाधियों से सम्मानित किया गया था। तासी की महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं :

1. 'ले ओत्यूर ऐन्दुस्तानी ऐल्यूर डबरज' (हिन्दुस्तानी लेखक और उनकी रचनाएँ 1868)
2. 'ल लॉग ऐ ल लितरेत्यूर ऐन्दुस्तानी 'द 1850-1869' (हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य)

3. 'दि स्कुर द डवरत्यूर टु कुर द ऐन्दुस्तानी' (हिन्दुस्तानी प्रारम्भिक गति पर भाषण 1874, पेरिस)
4. 'ल लॉग ऐ ल लितरेत्यूर ऐन्दुस्तानी—रेव्यू ऐन्युऐल (हिन्दुस्तानी 1870-76 भाषा और साहित्य)
5. 'रुदीमाँ दल लॉग ऐन्दुस्तानी' (हिन्दुस्तानी भाषा के प्राथमिक सिद्धान्त)
6. 'मेम्बर यूरल रेलिजिओं मुसलमान दाँ लिप' — (भारत में मुसलमानों के धर्म का विवरण)
7. 'ल पोएजी फिलोसोफिक ऐ रेलिज्यूस, शै ले पैर्सा' (फारस निवासियों का दार्शनिक और धार्मिक काव्य)
8. 'रहतोरिक दै नैसिओं मुसलमान' — (मुसलमान जातियों का काव्य शास्त्र)
9. 'खुत—बान तासी' — (भाषण का उर्दू अनुवाद)

इन ग्रन्थों में से केवल एक का अनुवाद हुआ है जिसका नाम है 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐन्दुस्तानी' अर्थात् हिन्दुई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास। इसके पहले भाग में कवियों का विवरण है तथा दूसरे भाग में कवियों की रचनाओं का परिचय है जो फ्रांसीसी भाषा में लिखे का अनुवाद है। यह ग्रन्थ तत्कालीन इतिहास एवं समाज का प्रतिबिम्ब है। इसकी रचना करने का तासी का मंतव्य उनके वाक्यों से समझा जा सकता है। इस ग्रन्थ को उन्होंने ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया को समर्पित किया। उन्होंने लिखा है कि 'महारानी विक्टोरिया के शासनकाल में भारतवासी खुशहाल थे। मैं मानान्त स्वाभाविक है कि मैं साम्राज्ञी से एक ऐसा ग्रन्थ समर्पित करने का सम्मान प्राप्त करने की प्रार्थना करूँ जिसका सम्बन्ध भारत वर्ष, आपके राजदण्ड के अन्तर्गत आये हुए इस विस्तृत और सुन्दर देश और जो इतना खुशहाल कभी नहीं था जितना कि वह वर्तमान के आश्रित होने पर है, के साहित्य के एक भाग से है। यह तथ्य सर्वमान्य है और इसके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दुस्तानी लेखक इसका प्रमाण देते हैं जिस ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत न तो लूट का भय है और न देशी सरकारों का अत्याचार है, उसका साहित्यिक रचनाओं में यशगान हुआ है।' तासी ने यह नहीं बताया है कि किन कवियों ने अंग्रेजी राज का गुणगान किया है और किन अर्थों में किया है, क्या उनका यशोगान वर्तमान एवं अतीत की तुलना से उभरा हुआ अनुभव है या अंग्रेजी राज्य के प्रति, वहाँ की साम्राज्ञी के प्रति अटूट निष्ठा के फलस्वरूप प्रशंसा की गई है। लेकिन मैंने बनारस में पेशे कई लोगों के नाम एवं कोठियों को देखा है जो अंग्रेजों के हितैषी थे। चाटुकार बनारस में उन्हें उपाधियाँ, रियासत, कोठियाँ एवं अपार लोभ जगत का आकर्षण मिलता था। इन उपाधियों की चर्चा तासी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में की है। जैसे आलम या मुहम्मद शाह के नामों, गुलाम अकबर 'ईश्वर का दास' है। नामों पर विचार करते हुए हमें सिखा है कि हिन्दू अपने देवी, देवताओं, उपदेवताओं के नाम ग्रहण करते हैं जैसे—कृष्णदास, माधोदास, नन्ददास, केशवदास आदि। अपने को पवित्र नगरों, दिव्य

नदियों तथा पौधों से भी जोड़कर उसका नामकरण करते हैं जैसे— गंगादास, तुलसीदास, अग्रदास, काशीदास। इस प्रकार मुसलमानों के नाम हैं— अब्दुल अली अर्थात् सर्वोच्च का दास, गुलाम मुहम्मद अर्थात् मुहम्मद का दास आदि। 'मिर्जा' और 'मीर' मुसलमानों की उपाधि है तो श्री और देव हिन्दुओं की।

तासी मानते थे कि इतिहास लेखन श्रम साध्य कर्म है। इतिहास लेखन के पूर्व की रचनात्मक सामग्री एकत्र करने के विषय में उन्होंने लिखा है कि "यूरोप में लगभग अज्ञात इसी साहित्य का विवरण मैं प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा उसे समृद्ध बनाने वाले और विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने वाले सभी प्रकार के पद्य और गद्य ग्रन्थों की ओर संकेत करने की है। इसके लिए मैंने अनेक हिन्दुस्तानी ग्रन्थों का अध्ययन किया है और उससे भी अधिक सरसरी निगाह से देखे हैं। जहाँ तक हो सका है मैंने अधिक से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त करने की चेष्टा की है। सार्वजनिक और निजी पुस्तकालयों के हिन्दुस्तानी भण्डारों से परिचित होने के लिए दो बार इंग्लैण्ड गया हूँ" ग्रन्थ में उन्होंने उन ग्रन्थों की सूची दी है जिससे उन्हें सहायता मिली है। तासी के इतिहास-ग्रन्थ लेखन की मौलिक पद्धति है। जो उनकी खोज का परिणाम है। तासी ने अपना ग्रन्थ अकारादि क्रम में लिखा है। उनके पहले कवि हैं अंगद, जिनके विषय में उन्होंने लिखा है 'सिक्खों के तीसरे गुरु और तीहन नामक एक विशेष सम्प्रदाय के संस्थापक।' उनकी कुछ धार्मिक कविताएँ हैं जो आदि ग्रन्थ में हैं। तथा अन्तिम कवि हेमन्त पंत हैं, जो एक यजुर्वेदीय ब्राह्मण थे जिनकी हिन्दी रचना लेखन पद्धति है।¹⁸

तासी ने इतिहास लेखन के पहले आत्म मंथन भी पर्याप्त मात्रा में किया था। उनका आत्म स्वीकार भरपूर ईमानदारी से भरा है "मौलिक जीवनियाँ जो मेरे ग्रन्थ का मूलाधार हैं, सब अकारादिक्रम से रखी गई हैं। मैंने यह पद्धति ग्रहण की है यद्यपि शुरु में मेरा विचार कालक्रम ग्रहण करने का था। मैं यह बात छिपाना नहीं चाहता कि यह क्रम अधिक अच्छा रहता या कम से कम जो शीर्षक मैंने अपने ग्रन्थ को दिया है उसके अधिक उपयुक्त होता किन्तु मेरे पास अपूर्ण सूचनाएँ होने के कारण उसे ग्रहण करना कठिन ही था..... जहाँ तक हिन्दुई लेखकों से सम्बन्ध है उनकी भी अधिकांश रचनाओं की निर्माण तिथियाँ निश्चित नहीं हैं। यदि मैंने काल क्रमवाली पद्धति ग्रहण की होती तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़े होते। पहले मैं उन लेखकों को रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञात है। दूसरे में उन लेखकों को रखता जिनका काल संदेहास्पद है। अन्त में उन्हें जिनका काल अज्ञात है..... अपना कार्य सरल बनाने के लिए और पाठक की सहूलियत दोनों की दृष्टियों से मुझे यह पद्धति छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।"¹⁹ इस आत्मस्वीकृति के बाद उस फ्रांसीसी रचनाकार के इस प्रयास को आलोचना के कटघरे में ले जाना अज्ञानता ही होगी।

काल विभाजन की रूप रेखा के विषय में लिखा है कि सबसे पहले हिन्दू कवि हैं जिन्हें 'अमरशतक' द्वारा ज्ञात संस्कृत कवि शंकर आचार्य मैंने माना है। ग्यारहवीं शताब्दी में मुसलमान कवि मसूद-इ-साद, बारहवीं में चन्द और पीपा, तेरहवीं में सादी

और बीजू बायरा, चौदहवीं शताब्दी में हैदराबाद के नूरी और दिल्ली के खुसरो, पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर, नानक, सोलहवीं में सुखदेव, नाभा जी-जीवनी सम्बन्धी कविताओं के अलावा जो भक्तमाल का मूल पाठ है तथा अबुल फजल को रखा। सत्रहवीं सदी में विषय में वास्तविक उर्दू कविता का सृजन आरम्भ हुआ। वली मुख्य कवि थे। हिन्दी कवियों में सूरदास, तुलसीदास, केशव दास का उल्लेख करते हुए इन्हें भारतवासियों को कवि कहा है। अठारहवीं सदी के कवियों में गंगापति, वीरभान, रामचरण एवं शिव रामचरण का उल्लेख किया है। उर्दू कवियों में सौदा तथा मीरहसन की चर्चा की है। सोलहवीं शताब्दी में बख्तावर जिन्होंने जैन सिद्धान्तों की पद्य में व्याख्या की है, जीवनी का दूल्हाराम और राम सनेही की चर्चा है। उन्होंने हिन्दुस्तानी साहित्य, कविता एवं भाषा पर अपनी सम्मानित सोच इस प्रकार अभिव्यक्त की है। हिन्दुस्तानी साहित्य का स्वीकार करते हुए तासी ने उसे बेजोड़ भाषा कहा है। उन्होंने लिखा है — "हिन्दुस्तानी साहित्य की एक काव्यात्मक महत्त्व है जो न तो किसी दूसरी भाषा से हीन है और न जो वास्तव में कम है। सच तो यह है कि प्रत्येक साहित्य में एक अपनापन होता है जो उसे आकर्षणपूर्ण बनाता है। प्रत्येक पुष्प की भाँति जिसमें एक फारसी कवि का ध्यानानुसार अलग-अलग रंग ओ बूर रहती है। भारतवर्ष वैसे भी कविता का प्रसिद्ध प्राचीन देश है। यहाँ सब कुछ पद्य में है — कथाएँ, इतिहास, नैतिक रचनाएँ, कोष और सब कि रूपये की गाथा भी।"²⁰

हिन्दुस्तानी छन्दशास्त्र के नियम (उरुज) कुछ थोड़े से अन्तर के साथ, वही अरबी-फारसी हैं। उर्दू और दक्खिनी की सब कविताएँ तर्क पूर्ण होती हैं। किन्तु पंक्ति के अन्त में एक या अनेक शब्दों की पुनरावृत्ति होती है तो तुक पूर्ववर्ती शब्द कहता है। तुक को काफिया और दुहराये गये शब्दों को रक्षक कहते हैं। आल्हा के लिए कहा है 'ऐसी कविता जिसका नाम उसके जन्मदाता से लिया गया है।' 'कवित्त' या 'कविता' चार पंक्तियों की छोटी कविता के लिए लिखा है। 'कुण्डल्या' या 'कुण्डयौ' कविता या कहिए छन्द जिसका एक ही शब्द से प्रारम्भ और अन्त होता है। 'गाली' यह शब्द भी जिसका ठीक-ठीक अर्थ है 'अपमान'। विवाहों और उत्सवों के अवसर पर गाये जाने वाले कुछ अश्लील गीतों का नाम है।

इस परिभाषा से तो लगता है कि तासी को लोक-संस्कृति का भी अच्छा ज्ञान था। उनका संगीत का ज्ञान स्पष्ट होता है जब वे रागों को चित्रित करते हैं जैसे— 'जयकरी' एक रागिनी और एक गौण संगीत रूप सम्बन्धी गाने का नाम। 'जयकरी छन्द' जयका विजय का गीत, एक प्रकार की कविता जिसके उदाहरण महाभारत के अंश में मिलते हैं। 'झूना' अथवा झूलों का गीत वैसा ही जैसा हिण्डोला है। अन्य के अतिरिक्त वे 'टुम्री' भी रचनाओं में है। 'टप्पा' इसी नाम से संगीत रूप में गाई गई छोटी श्रृंगारिक कविता है। इसमें अन्तरा अन्त में दुबारा आने वाले प्रथम चरणार्द्ध से भिन्न होता है। 'तुम्री' का अर्थ है थोड़ी संख्या में चरणार्द्ध वाले हिन्दुई के कुछ लोकप्रिय गीतों का नाम। 'धम्माल' या रागिनीसों में उनका विशेषतः प्रयोग होता है। 'धम्माल' गीत जो भारतीय

आनन्दोत्सव पर्व जबकि यह सुना जाता है के आधार पर 'होली' या होरी भी कहा जाता है। 'धुर्पद' सामान्यतः एक ही लय के पाँच चरणों में रचित छोटी कविता। वे सब विषयों पर हैं, विशेषतः वीर विषयों पर। इसी प्रकार 'प्रबन्ध' के लिए लिखा है, प्राचीन हिन्दुई गान तथा 'प्रभाती' एक रागिनी और साधुओं में प्रयुक्त एक कविता का नाम। 'बधावा' के लिए लिखा है चार चरणाद्धों की कविता जिसका पहला कविता के प्रारम्भ और अन्त में दुहराया जाता है। यह बधाई का गीत है जो बच्चों के जन्म, विवाह-संस्कार आदि के समय सुना जाता है।¹¹ इसी तरह से बसंत, मंगल, मल्हार, रमैनी, रास आदि शब्दों को तासी ने बहुत सुन्दर ढंग से अपनी रचना में चित्रित किया है। इससे उनका लोकगीत, लोकसंस्कृति, लोकव्यवहार, लोक-जीवन एवं लोक-परम्पराओं का ज्ञान स्पष्ट होता है।

हिन्दुस्तानी कविता के महत्त्व को स्वीकार करते समय उन्होंने इसकी विराट भाव भूमि की चर्चा की है। 'हिन्दुस्तानी कविता धर्म और उच्च दर्शन के सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्तों को प्रचलित करने में विशेषतः प्रयुक्त हुई है। वास्तव में उर्दू कविता का कोई संग्रह खोल लीजिए और उसमें आपको मनुष्य और ईश्वर के मिलन सम्बन्धी विविध रूपकों के अन्तर्गत वे ही बातें मिलेंगी। सर्वत्र भ्रमर और कमल, बुलबुल और गुलाब, परवाना और शमा मिलेंगे।¹² हिन्दुस्तानी भाषा के विषय में उन्होंने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'बोलचाल की भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को समस्त एशिया में कोमलता और विशुद्धता की दृष्टि से जो ख्याति प्राप्त है वह अन्य किसी को नहीं है। फारसी की एक कहावत कही जाती है जिसके अनुसार मुसलमान अरबी को पूर्वी मुसलमानों की भाषाओं के आधार और अत्यधिक पूर्ण भाषा के रूप में, तुर्की को कला और सरल साहित्य की भाषा के रूप में और फारसी को काव्य इतिहास उच्चस्तर के पत्र व्यवहार की भाषा के रूप में मानते हैं किन्तु जिस भाषा ने समाज की सामान्य परिस्थितियों में अन्य तीनों के गुण ग्रहण किये हैं वह हिन्दुस्तानी है जो बोलचाल की भाषा और व्यावहारिक प्रयोग के जिनके साथ उसका विशेष सम्बन्ध स्थापित किया जाता है रूप में उनसे बहुत मिलती-जुलती है।¹³

फ्रांसीसी लेखक तासी का हिन्दी भाषा से अटूट प्रेम था। उन्होंने इसे धार्मिक सुधारों की भाषा कहा है। जिस प्रकार यूरोप के इसाई सुधारकों ने अपने मतों और धार्मिक उपदेशों के समर्थन के लिए जीवित भाषायें ग्रहण कीं, उसी प्रकार भारत में हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायों के गुरुओं ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने इतिहास ग्रन्थ में हिन्दी रचनाओं को चार भागों में विभक्त किया है। पहला आरव्यान, कहानी, किस्सा, दूसरा आदि काव्य अथवा प्राचीन काव्य उससे विशेषतः रामायण समझा जाता है, तीसरा इतिहास गाथा वर्णन। ऐतिहासिक-पौराणिक परम्पराओं में ऐसे अनेक हैं जैसे महाभारत तथा पद्यात्मक इतिहास। अन्त में 'काव्य' किसी भी प्रकार की काव्यात्मक रचना। इतिहास गाथा वर्णन में उन्होंने 'तोता कहानी' एक तोते की कहानी 'सिंहासन बत्तीसी (जादुई सिंहासन) 'बैताल पचीसी' (बैताल की कहानी) आदि। वे भारतीय कहानियों से बहुत अधिक प्रभावित थे। उन्होंने लिखा है 'भारतीय

कहानियों और नैतिक कथाओं के खास-खास संग्रहों के ज्ञान से इस बात की परीक्षा की जा सकती है। उनमें कथाओं के अत्यन्त प्रवाहपूर्ण रूपों के बीच में बुद्धि की भाषा मिलती है क्योंकि जैसा कि एक उर्दू कवि ने कहा है केवल शारीरिक सौन्दर्य ही हृदय नहीं हरता जो सुनने वाली मधुर बातों में और भी अधिक आकर्षण होता है।¹⁴

तासी को भारतीय संगीत एवं कविता से अत्यधिक लगाव था। उन्होंने भारतीय संगीत में प्रयुक्त शब्दावलियों एवं छंदों का उल्लेख अपने इतिहास ग्रन्थ में किया है। उन्हें भारतीय भाषा में प्रयुक्त शब्दों को उचित रूप में प्रयोग करने का प्रयास किया है। संस्कृत भाषा के लिए भी तासी के मन में आदर था। उन्होंने इस भाषा के विषय में लिखा है "जब भारत में संस्कृत का चलन था तो देश की भाषाओं का व्यवहार बन्द नहीं हो गया था। उत्तर की भाँति दक्षिण में संस्कृत सामान्य भाषा कभी न हो सकी। वास्तव में हम हिन्दुओं की नाट्य रचनाओं में केवल उच्च श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त पाते हैं और स्त्रियाँ तथा साधारण व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त (जिसका संस्कार किया गया है) के विपरीत 'प्राकृत' (बिगड़ी हुई) कही जाने वाली प्राचीन बोलियाँ बोलते थे। ये बोलियाँ केवल विद्वानों की और पवित्र भाषा समझी जाने वाली संस्कृत को बिल्कुल ही हटा देना नहीं चाहती।¹⁵

तासी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में उस समय हो रहे धर्म परिवर्तन पर चिन्ता व्यक्त की है। उन्होंने लिखा है 'लेखकों में मुसलमान हो गये कुछ हिन्दू मिलते हैं किन्तु ऐसा मुसलमान नहीं मिलता जिसने हिन्दू धर्म स्वीकार किया हो। जब तक कि वह हिन्दू धर्म से उग्र सुधारवादी सम्प्रदाय में प्रवेश न करे। उदाहरणार्थ जैसे सिक्खों का जो अपना धर्म स्वीकार करने वाले मुसलमानों को मजहबी कहते हैं। वास्तव में मुसलमान से हिन्दू धर्म में अधनति करना है। क्योंकि ईश्वर की एकता और भविष्य जीवन में विश्वास उसका आधार है। इसके अतिरिक्त भारत के मुसलमानों में विवेक प्रवेश नहीं कर पाया। वे अब अपने धर्म के लिए अत्यन्त उत्साही हैं। हिन्दुस्तानी लेखकों में कुछ ऐसे हिन्दू मिलते हैं जो इसाईयत स्वीकार कर लिया था। कहा जाता है कि शौकत बनारस में एक विद्वान के घनिष्ठ मित्र थे। जिसके कहने पर उन्होंने इसाई धर्म अपनाया और अपना नाम मुनीफ अली (अली द्वारा उत्साहित) से मुनीफ मसीह रख लिया।¹⁶

प्राचीन ग्रन्थों एवं कवियों के विषय में तासी ने अपनी इस रचना में पर्याप्त विवरण-विश्लेषण किया है। लल्लूलाल द्वारा रचित 'प्रेमसागर' का उन्होंने गहन अध्ययन किया था और उसका विश्लेषण करते हुये लिखा है 'यद्यपि यह कहा जाता है कि प्रेमसागर का आधार भागवत व पुराण का दशम स्कन्ध है किन्तु यह जान लेना अच्छा है कि इस प्रकार की कथाएँ जो भारतीय लेखकों को बहुत अच्छी लगती हैं अन्य अनेक ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं। विशेषतः विष्णु पुराण, हरिवंश तथा अन्य रचनाओं में। प्रेमसागर का इनकी कथाओं के समीप है। मुझे उसमें जो बहुत प्रमुख बात ज्ञात होती है, वह कृष्ण (क्राइस्ट) और कृष्ण के जीवन की बहुत सी मिलती जुलती बातें हैं। संयोग से कृष्ण और क्राइस्ट के नाम भी आपस में बहुत कुछ समान हैं। तासी के गहन अध्ययन एवं व्यापक सोच का परिणाम यह विश्लेषण है। गार्सा द तासी ने 'महाभारत'

क्रिएशन

का भी एक संस्करण प्रकाशित किया था। वे भाषाओं में हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के साहित्यिक एवं भाषात्मक पक्षों का ज्ञान रखते थे। भारत के ऐतिहासिक तथा धार्मिक जीवन से भी उनका पुष्कल परिचय था। ये काव्य शास्त्र के भी मर्मज्ञ थे।¹⁸

हिन्दी के सन्त कवियों के जीवन-चित्रण में उन्होंने व्यापक रुचि दिखाते हुए उन किंवदन्तियों एवं रूढ़ियों का भी उल्लेख किया है जिससे तत्कालीन जन-सोच तथा इन कवियों का चरित्र विश्लेषित होता है। कबीर तुलसी, दादू, रैदास, पीपा, बिहारी आदि कवियों का विस्तृत वर्णन कथाओं तथा अन्तर्कथाओं के साथ है। मीराबाई की भक्ति भावना एवं त्यागमय जीवन का विश्लेषण भी यहाँ देखा जा सकता है।¹⁹ इस प्रकार तासी की यह रचना भारतवर्ष, भारत भूमि एवं इस पर रचे-बसे जन मानस की खुली पुस्तक है। उनका व्यक्तित्व महान था। वे एक महान सर्जक थे। दूरदर्शिता उनमें भरपूर थी। उन्हें यह भरोसा था कि एक दिन उनकी कद्र होगी। उन्होंने अपने ग्रन्थों में यह आशा व्यक्त की है कि मैं पारखियों के सामने अपनी रचना रखता हूँ, वैसे ही जैसे जौहरी से परखवाने के लिए रत्न।²⁰

वही है मेरे हर्फ का कद्रवाँ

कि जौहर न बूझे बजुज जौहरी।

सन्दर्भ

1. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, डॉ० लक्ष्मी सागर वाष्णीय, पृ० क
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० 12-13
3. शिव सिंह सरोज की भूमिका, शिव सिंह सेंगर, सातवाँ संस्करण, 1926 पृ० 1
4. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० राम कुमार वर्मा, भूमिका, पृ० 2
5. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2 पृ० 118-119
6. मूलग्रन्थ के प्रथम अंक का समर्पण, पेरिस, 15 अप्रैल, 1839 पृ० अ०
7. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० 8
8. पूर्वोक्त, पृ० 129
9. पूर्वोक्त, पृ० 12
10. पूर्वोक्त, पृ० 7
11. पूर्वोक्त, पृ० 7
12. पूर्वोक्त, पृ० 23-24
13. पूर्वोक्त, पृ० 7
14. पूर्वोक्त, पृ० 21
15. पूर्वोक्त, पृ० 55
16. पूर्वोक्त, पृ० 118-119
17. पूर्वोक्त, पृ० 256-257
18. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ० 119
19. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, पृ० 15-17, 94, 108, 143-152, 212-218, 249-251
20. पूर्वोक्त, पृ० 16

शलाका पुरुष : केदार नाथ अग्रवाल

डॉ० मधु सिंह

एसो० प्रोफेसर हिन्दी विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, वाराणसी

नयी कविता के पुरोधा केदार नाथ अग्रवाल की काव्ययात्रा प्रगतिवादी चिन्तन से प्रभावित हुई है। उनकी कविता विविध आयामी है। वे एक ऐसे कवि हैं जिनकी प्रतिभा प्रेम, प्रगतिवाद एवं परिवेश को स्पर्श करती हुई पाठक को प्रभावित करती है। शमशेर सिंह उनके प्रकृति चित्रण, प्रेम भावना और सौन्दर्य दृष्टि के सम्बन्ध में लिखते हैं— "केदार जिस खोज की तरफ बढ़े हैं, वह है समाज का सत्य और प्रकृति का खुला सौन्दर्य। अन्याय के खिलाफ और मेहनत के पक्ष में वह बेझिझक बोलता है। जीवन में दोहरी तिहरी धार नहीं सीधी एक धारा मगर वही बहुत काफी होती है। उनका हृदय का उन्मुक्त साहसी कवि सौन्दर्य और प्रेम की सुषमा पर दृष्टि डालता है। समाज ही अनुभूतियों से हमें मोह लेता है।

उन्होंने अपने काव्य संकलन की भूमिका में लिखा है— "मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य का मानस अलौकिक विचार संजोये रखे हैं और यह वस्तु जगत मिथ्या है। मैं भी मानता हूँ कि उस अलौकिक विचार की अभिव्यक्ति यह वस्तु जगत है। समाज जगत को सत्य मानता हूँ। उसके विकास क्रम में मनुष्य के विकास का पूरा ध्यान पाला हूँ। मेरी कविता न तो अलौकिक जगत की कविता है और न अजबूबे व्यक्ति की कविता है यह वस्तु जगत से विकसित होती हुई वाणी और भाषा की कविता है।" "केदार एक गाँव से आने वाले कवि है जिस कृषक परिवार में उत्पन्न हुए थे। वे किसान थे तथापि उन्होंने मार्क्सवाद को स्वीकार किया और अपना सर्वहाराकरण कर किसानों के हित को अपना हित बना लिया।"²

भारतीय जनता सामन्ती औपनिवेशिक और पूँजीवादी तीनों ही प्रकार के शोषण का शिकार रही है। केदारनाथ अग्रवाल ने मार्क्सवाद की रोशनी में इस शोषण को समझा और किसान कवि के रूप में उभरकर सामने आये। कवि अग्रवाल जिस जीवन से प्रेम करते हैं वह भारतीय जन का साधारण जीवन है। इस देश के किसानों, मजदूरों तथा शोषित वर्ग का जीवन है। यह जीवन एक कष्टमय खास दौर से गुजर रहा है। वे इस जीवन को निकट से देखते हैं एवं अपनी कविताओं में यथार्थता से इनका चित्रण करते हैं। अपनी कविता 'हे मेरी तुम' में वे लिखते हैं—

जब नार संसार न बदला

जब हीन पतवार न बदला

बदला शासन देश न बदला

राजसत्ता का भेष न बदला

न चलता घर
अब नहीं चलता चलाये
ठेलने-ठालने से
इस महँगाई में
कमाई पड़ गयी खटाई में

‘मार प्यार की थापें’ कविता में केंदारनाथ अग्रवाल ने देश की राजनीति और शासन पर आक्रोश व्यक्त किया है। सन् 1975 से 1977 तक का काल भारतीय राजनीतिक के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण था, उस समय युवाओं ने सम्पूर्ण क्रान्ति का उद्घोषण किया। देश के नेताओं की वाचालता का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है :

देश में लगी आग को
लक्काजी नेता
शब्दों से भुलाते हैं
वाग्धारा से
ऊसर को उर्वर
और देश को
आत्म निर्भर बनाते हैं
लोकतंत्र का शासन
पाषाण तंत्र से
चलाते हैं।¹⁵

चलाते हैं।
कैदारनाथ अग्रवाल ने श्रमरत मनुष्य को अपनी कविताओं में प्रत्यक्षकर भावपक्ष के विभावपक्ष के माध्यम से व्यक्त किया है। कटुई का गीत, मेरे खेत में हल चलता है, छोटा हाथ, आँख खुली, हथौड़े का गीत, मेरा तेरा श्रम, मैंने उसको जब-जब देखा, डंका बजा गाँव के भीतर, मार हथौड़ा कर चोट, चन्द्र गहना से लौटती बेर, चित्रकूट के बौड़म या आदि बहुत सारी कविताएँ इस तथ्य की प्रमाण हैं। समाज के विकास का मूलाधार अब भी शोषित उत्पीड़ित जन की ही विशेषता बना हुआ है :

छोटे हाथ
सबेरा होते
लाल कमल से खिल उठते हैं
करनी करने को उत्सुक हो
धूप हवा में हिल उठते हैं
* *
छोटे हाथ
किसानी करते
बीज नये बोया करते हैं
आने वाले वैभव के दिन
उँगली से टोया करते हैं ।^{१६}

जिसमें छोटे हाथ किसान मजदूर से लेकर उसके क्रान्तिकारी संगठनों और शोषित वर्ग के कलाकारों — बुद्धजीवियों तक की सामाजिक सांस्कृतिक भूमिका को पूरी क्रियाशीलता के साथ संकेतित करते हैं।

इस शोषित — उत्पीड़ित जन-गण को कंदारनाथ अग्रवाल ने उसकी समूची और खूबियों के साथ अपनी कविता में उपस्थित किया है। उनके द्वारा चलाये गये उद्धार उपायों को वाणी देकर उनकी आसीम सृजन क्षमता और परिवर्तनकारी विश्वास प्रगट करते हुए उनकी कमजोरियों को सहानुभूतिपूर्वक उद्घाटित कर कवि ने एक प्रतिबद्ध कलाकार की तरह उनके प्रति अपनी पक्षधरता का भी अभिव्यक्ति दिया है।

अंधल बुन्देलखण्ड की प्रकृति और जनजीवन उनकी कविता के मुख्य विषय हैं। विषयवस्तु के अनुरूप सरल, इकहरी और गुंफित-सश्लिष्ट शिल्पशैली का प्रयोग हुआ है। मोमबत्ती और सूरज कविता में किसान जीवन की पौरुषशील दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है :

जीवन नहीं मोमबत्ती है
जले और रोये पिघले जो
छोये अन्त समय में
जीवन तप्त प्रकाश सूर्य है
जो गहरे सागर में उभरे
लाल अग्नि सा पहले दहके
जड़ चेतन सम्पूर्ण प्रकृति के
शोम-शोम में ज्वाल उगल दे

उन्होंने ग्राम्य जीवन को बहुत निकट से देखा है या यों कहें कि उन्होंने वह जाना है, तभी वे अनछुए पहलुओं का अहसास कर पाये। चक्की पशुदल तथा गोबर आदि ग्राम्य जीवन के मायने ही बदल देती है जिससे जिजिविषा मरने लगती है। पशु आसाम कार्य नहीं है। उनको पालने के लिए पशु ही बनना पड़ता है।

कभी पुरातन घक्की का मीठा स्वर अन्धकार के आर्तनाद सा सुन पड़ता है।
 यों-त्यों, बकरी पशुओं के दल में मूर्ख मनुष्यों का समाज खोया रहता है। सड़े
 और की बदबू से दबकर महक जिन्दगी के गुलाब की मर जाती है। रात
 की शब्दों से दुःख से कातर आज ग्राम की दुर्बल धरती घबराती है।

जीवन की सरलता, स्वस्थता और उन्मुक्ता के साथ ही साथ जीवन के प्रति और आशावादी दृष्टि का छाप इस कविता पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है:

हवा हूँ, हवा में
 जागती हवा हूँ
 यही हूँ, यही हो
 तुमों से गगन को
 जिना कष्ट भ्रम के

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरेठा शीश पर

प्रेम का पति-पत्नी प्रेम का अत्यन्त भव्य एवं सर्वव्यापी रूप प्रस्तुत करते हुए 'पति प्रेम अध्यानक पाया' कविता में अपने प्रेम के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है:

पति प्रेम अध्यानक पाया

गया ब्याह में युवती लाने
प्रेम व्याह कर संग में लाया
घर में आया घूँघट खोला
आँखों का भ्रम दूर हटाया
प्रेम पुलक से प्रेरित होकर
प्रेम रूप को अंग लगाया¹⁴

दाम्पत्य जीवन का एक सुन्दर चित्र उनकी निम्नलिखित कविता में भी मिलता है :

रेत में हूँ जमुन जल तुम
मुझे तुमने
हृदय तल से ढक लिया है
और अपना कर लिया है
अब मुझे क्या रात-क्या दिन
क्या प्रलय-क्या पुनर्जीवन¹⁵

वस्तुतः केदारनाथ अग्रवाल जीवन संसृति के कवि है और अपने इसी उन्मुक्त व्यक्ति को सप्रयास बचाये रखना चाहते हैं। वस्तुतः प्रेम की उदास्तता को स्वीकार करने वाले, प्रकृति के चितेरे, भ्रम प्रतिष्ठा के अभिभावक, केदारनाथ अग्रवाल जीवन के उदघोषण, पुरुषार्थ के प्रेरक एवं दुर्दम्य आशावाद के संदेश वाहक वर्तमान युग के शलाका पुरुष सिद्ध होते हैं।

सन्दर्भ

1. गुलमेंहदी-
2. आलोचना पत्रिका-
3. हे मुरी तुम-
4. हे मुरी तुम-
5. मार प्यार की थापें-पृष्ठ-29 (केदारनाथ अग्रवाल)
6. गुलमेंहदी- छोटे हाथ
7. गुलमेंहदी-युग की गंगा, मोमबत्ती और
8. गुलमेंहदी- गाँव में
9. फूल नहीं रंग बोलते हैं, बसन्ती हवा
10. फूल ही रंग बोलते हैं,
11. फूल नहीं रंग बोलते हैं,
12. फूल नहीं रंग बोलते हैं,
13. जमुन जल तुम 1984 काव्य संग्रह की
14. गुलमेंहदी- नौद के बादल
15. जमुन जल तुम

- पृष्ठ-7 (केदारनाथ अग्रवाल)
जनवरी, जून, 1981 पृष्ठ-64
पृष्ठ-12 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-19 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-133 (केदारनाथ अग्रवाल)
सूरजपृष्ठ-57 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-63 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-63 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-63 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-17 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-50 (केदारनाथ अग्रवाल)
भूमिका (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-74 (केदारनाथ अग्रवाल)
पृष्ठ-121 (केदारनाथ अग्रवाल)

नई विश्वव्यवस्था में साहित्य-सिद्धान्त के समक्ष चुनौतियाँ

डॉ० वीना सुमन

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, वाराणसी

साहित्य व तदसंबंधी साहित्य-सिद्धान्त - दोनों ही अपने समय व समाज के मूल्यों व परम्पराओं से जुड़े होते हैं। क्योंकि रचनाकार, अनिवार्य रूप से इन सबका हिस्सा होता है, जैसे-जैसे इनके स्वरूप में बदलाव आता है, वैसे-वैसे साहित्य की रचना भी बदलती रहती है। इस ओर शुक्ल जी ने भी इंगित किया है। फलतः साहित्य सिद्धान्त भी अपना रूपांतरण करता चलता है। इस प्रकार साहित्य सिद्धान्त की रचना भी मात्र सिद्धान्त की ही नहीं, साहित्य की भी चुनौतियाँ हैं। क्योंकि साहित्य पहले सिद्धान्त बाद में। पाठ ही संकेत (Symbol) छोड़ता है, जिसे सिद्धान्तकार ग्रहण करता है। सिद्धान्त को जामा पहनाता है। पंकज बिष्ट की कहानी 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' का ही तो संकेत है। निराला ने 'जूही की कली' मुक्त- छंद का सिद्धान्त गढ़ने का प्रयास नहीं लिखा था और न ही रेणु ने औचलिक उपन्यास का चौखटा बनाकर 'मैला साहित्य' लिखना शुरू किया था। अतः साहित्य की रचना-प्रक्रिया में ही सिद्धान्त के विकास का भी समानान्तर रूप से आते हैं।

अब विवेच्य प्रसंग में नई विश्व-व्यवस्था के स्वरूप से दो- चार होना लाजिमी है। नई विश्व-व्यवस्था भूमंडलीकरण की वह व्यवस्था है, जिसमें पूँजी राष्ट्रीय सीमाओं का पार कर मुक्त रूप से विचरण करती है। इसमें दुनिया भर का वित्तीय बाजार आपस में जुड़ा होता है। इसे अगर शालीन शब्दों में कहा जाय तो यह 'विश्वग्राम' की अवधारणा है। इसमें सम्पूर्ण विश्व को सम्पर्कों के तंत्र से गूँथने की बात कही जा रही है और इस तंत्र का मूल उत्प्रेरक और सूत्रधार है - वह है व्यवसायी प्रवृत्ति। निश्चय ही सम्पर्क बढ़ने से सभी तरह के संक्रमण होंगे, चाहे वे पाच्य और रुचिकर हों या न हों।

अब जबकि भूमंडलीकरण के माध्यम से पूँजीवाद अपना रूपांतरित रूप - वैश्ववादी उपनिवेशवाद, लेकर मैदान में उतर चुका है तो कुछ प्रश्न भी खड़े होने लगे हैं। क्या संस्कृति भी बाजार की वस्तु होगी? क्या मनुष्य के सभी बौद्धिक और भावनात्मक व्यवहार बाजार के नियमों से नियंत्रित होंगे? इस प्रसंग में सेमुअल पी० जेम्स का पश्चिमी देशों को दी गई राय प्रासंगिक है - "(पश्चिम) पश्चिमी मूल्यों को सहायता देने के लिए सहायता रखने वाली सभ्यताओं और समूहों को समर्थन दे, उन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का समर्थन बनाए जो पश्चिमी हितों को प्रतिबिम्बित करते हों और उन्हें वैधता

प्रदान करते हों।" जाहिर है शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद एक ध्रुवीय वैश्विक परिदृश्य में सभ्यताओं और संस्कृतियों की चरवाही का काम पूँजीवादी देश करने को तत्पर हैं। दुनिया आज ताकत की है। पहले ताकत बारूदी ही मानी जाती थी पर आज उसके पक्ष में एक और महायोद्धा खड़ा है— वह है पूँजी। यही कारण है कि आज विभिन्न देशों की ज्यादातर नीतियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की जगह विश्व व्यापार संगठन के अध्यक्ष की भृकुटी देखकर तय की जाने लगी हैं। यहाँ तक कि चीन— जैसे धुर साम्यवादी देश से भी अपनी लौह—चारदीवारी में दरवाजा बनाना पड़ा है और साम्यवाद की जगह 'नियंत्रित पूँजीवाद' को अपनाना पड़ा है। अब जहाँ किसी विचारधारा की सबसे सुरक्षित शरणस्थली में बाजार सेंध मार रहा हो तो वहाँ संबंधित विचारधारात्मक साहित्य सिद्धान्त के अस्तित्व को भी चुनौती की आशंका को नकारा नहीं जा सकता।

तात्पर्य यह है कि जब हम इस नई विश्व व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की स्थिति पर बात करते हैं, तो इस आशंका या चुनौती को भाँपने के लिए विवश होते हैं कि इन्हीं ताकतों के हित — स्वार्थों के अनुकूल साहित्य व साहित्य — सिद्धान्त को पकाना और पचाना पड़ सकता है।

भारतेन्दु और शुक्ल जी ने जिस टकाधर्म और वणिकधर्म की बात की थी, उसकी पताका अब लहराती नजर आ रही है। यह मनुष्य के अवचेतन पर कब्जे की लड़ाई जीत रही है और, यह हो रहा है उपभोक्तावादी उपनिवेशवाद के जरिए। उपभोक्तावादी संस्कृति की विशेषता होती है कि उसमें उत्पादन की गुणवत्ता की जगह उपभोक्ता की रुचि को विकसित किया जाता है। बाजारी शक्तियाँ अपने तरह से अपनी तरह के साहित्य का भी धुआँधार और चकाचौंध करने वाले विज्ञापनों से विपणन करेंगी। ऐसी स्थिति में किस तरह का साहित्य—सिद्धान्त विकसित होगा या फिर पूर्व से मौजूद किस तरह के सिद्धान्त से उसका मूल्यांकन होगा? जाहिर है कि अब पाठकीय रुचि के परिष्कार का दायित्व साहित्य—सिद्धान्त से छिनकर बाजार के हाथों में जाने की आशंका उत्पन्न हो रही है।

बाजारी अस्त्र है — एक पर एक मुफ्त या 'क' खरीदने पर 'ख' मुफ्त। दोनों स्थितियाँ खतरनाक हैं, दोनों में रुचि को जगाया जा रहा है, आदी बनाया जा रहा है। साहित्य में भी प्रेमचंद की एक किताब पर जेम्स हेडली चेईज को जासूसी उपन्यास मुफ्त दिया जा सकता है। फिर वही रुचि भी बनने की आशंका हो सकती है। उपभोक्तावादी दौर की सांस्कृतिक प्रक्रिया जॉन बैकमेन के अनुसार "सामूहिक अनुभव को व्यक्तिगत अनुभव बनाती है और सामूहिक प्रतिरोध की चेतना के विकास को रोकती है।" फलतः आदमी आज चाभी वाला खिलौना बनता जा रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति की अदृश्य चाभी उसके अंदर घुसड़े दी गई है।

फ्रेडरिक नीत्शे के अनुसार पाठक को धीरे—धीरे समझकर पढ़ना चाहिए। यह स्वर्णकार का पेशा है। पर, उपभोक्तावादी संस्कृति ने जो फास्ट—फूड की जिंदगी

बाजार की जिंदगी दी है, लोग अल्पतम समय में अधिकतम मनोरंजन चाहते हैं। बाजार से भी अतः यह मांग हो सकती है। बाजार का सिद्धान्त है — माँग के अनुसार आपूर्ति का नियम। फिर क्या, साहित्य में भी सिनेमा की तरह एक मुख्यधारा—व्यावसायिक, बाजार प्रधान साहित्य की और एक श्रीणधारा—समांतर शुद्ध सामाजिक साहित्य की, संभावना नहीं उठती। ऐसी स्थिति में साहित्य सिद्धान्त कहाँ खड़ा रह पाएगा?

आज भारत में ही 'पॉप नॉवेल्स' की जो परम्परा — खुशवंत सिंह, शोभा डे आदि ने चलाई है, उसके मूल्यांकन के लिए साहित्य सिद्धान्त कौन से मानदंड तैयार करेगा? शोभा डे द्वारा लिखित 'स्वाभिमान' सीरियल ने भारतीय मध्यवर्ग के ड्राइंगरूम में एक स्थान पैदा किया, उसके संकेत और ओम प्रकाश बाल्मीकि या मोहनदास नैमिषारण्य के साहित्य के संकेत दोनों एक ही सिद्धान्त की छतरी में चल पाएंगे? यहाँ तक कि खुशवंत सिंह की ही दो रचनाएँ — 'ट्रेन टू पाकिस्तान' और 'कम्पनी ऑफ वुमन' दो पृथक् सिद्धान्तों का आग्रह करने वाले संकेत देती हैं।

बाजार के लिए बिकना महत्वपूर्ण हैं। वह जेब की मोटाई देखता है न कि पाठक का शूद्र, उसके लिए आपकी मानसिक जाति का एक होना ही मायने रखता है। बाजार के लिए उसे ऋग्वेद बेचने, निर्मल वर्मा या गाँव के किसी अनाम साहित्यकार की पुस्तक बेचने में कोई हिचक नहीं होती, बशर्ते वह बिके। बाजार के इस कथित 'लोकतंत्र' में बाजार की महत्वपूर्ण भूमिका हो चुकी है। रैल्फ फाक्स बताते हैं कि — "पाठक को अब बाजार की मिलाता जो कि वह चाहता है, बल्कि उसे उसी को चाहना पड़ता है जो प्रकाशक बाजार उसे प्रदान करता है।" यह बाजार का ही दबाव था कि महादेव सेठ ने बाजार—मंडल में निराला की बजाय उग्र को आगे बढ़ाया। यह स्थिति भी साहित्य — सिद्धान्त के समक्ष संशय खड़ी करती है।

सबसे बड़ा खतरा तो शब्द की संस्कृति के लोप होने की प्रवृत्ति से उत्पन्न हो रहा है। गौतम पांडेय की भी चिन्ता है कि — "आजकल दृश्यों की संस्कृति के अभूतपूर्व विस्तार के समय में शब्द की संस्कृति या कि साहित्य की स्थिति संदेह की चिन्ता के घेरे में है।" जब पाठ ही नहीं होगा तो सिद्धान्त किसकी चिन्ता करेगा। इंटरनेट के युग में जब प्रत्येक चीज परदे पर हासिल है तो कितने लोगों से उसकी चिन्ता है? और फिर, सिद्धान्त वृहत् सामाजिक सच्चाई पर व्यापक विमर्श के उपरान्त ही बनता है। न तो वृहत् सामाजिक सच्चाई ही है और न ही विमर्श करने वाले लोगों की पहुँच है। साहित्य — सिद्धान्त इस स्थिति से भी दो चार हो रहा है।

इसके साथ—साथ भाषा के बदलते स्वरूप से भी दिक्कतें आ रही हैं। बौद्धिक स्तर पर भाषा अब भी अधिकतर हिन्दी — भाषियों के पल्ले नहीं पड़ सकती। सिद्धान्त के लिए यह क्या हो?

ए. जे. ग्रेसरी और, फर्ज कीजिए कि "पाश्चात्य समाज में बहुप्रचलित उन्मुक्त सेक्स के रूप में साहित्य सिद्धान्त के समक्ष आता है और इस आधार पर वह अपना

चौखटा बताता है, तो क्या होगा? यह कटु यथार्थ है कि जीवन मूल्यों का निर्धारण संस्कृति सापेक्ष होता है। यदि एक ओर यूरोप में उन्मुक्त सेक्स स्वीकृत है तो दूसरी ओर, भारत के ही विभिन्न सामाजिक अंचल में यह अब भी वर्ज्य है और तीसरी ओर, कई अफ्रीकी एवं अन्य जनजातीय समाजों में यह आम बात है। जाहिर है कि वह सिद्धान्त अवांछित रूप से अपेक्षाओं से टकराएगा भी। इसी स्थिति में, कछुआ- धरम की तरह, मराठी लेखक भालचंद्र नेमाडे और प्रो० जी०एन० देवी जैसे लोग 'देसीवाद' जैसी प्रतिगामी प्रवृत्ति की वकालत करने लगते हैं।⁵ यह स्थिति भी सिद्धान्त के लिए ठीक नहीं। हम एक साथ हँसना और गाल फुलाना नहीं कर सकते।

सबसे बड़ी चुनौती तो साहित्य- सिद्धान्त के समक्ष साहित्य के हाशिए पर पड़े मनुष्य व उसके समाज को वापस केन्द्र लाने की हैं। साहित्य रहता है तो हमेशा मानव के पक्ष में, पर कैसे मानव के पक्ष में, किसका पक्षधर होकर - यह भी एक सवाल वर्चस्वशील, परिष्कृत रूचि के, भोगवादी संस्कृति की वकालत करने वाले साहित्य की साजिश को पहचानकर, मरते हुए मानवीय पक्ष को किस कदर जिलाकर रखा जाए - 'ऐसे हथियार की तलाश साहित्य- सिद्धान्त के समक्ष आज चुनौती है। बद्रीनारायण की कविता 'शक्तिशाली' में मनुष्य से ज्यादा वस्तु को महत्व दिए और 'खोज' में भूमंडलीकरण व बाजारीकरण के कारण गाँव होगा आदमी नहीं- को दिखाया गया है।

इसी तरह साहित्य सिद्धान्त के समक्ष विभिन्न अस्मिताओं के आग्रह, नस्लवादी खतरों और सांप्रदायिकता की भी चुनौती हैं। अस्मिता के आग्रह के बरक्स विचारधारात्मक प्रवृत्ति को संस्था से जोड़कर स्थापित करने या किसी स्थापित के खंडित करने की साजिश से भी जूझने की चुनौती मौजूद है।

किसी भी साहित्य का मूल्यांकन दूसरी परम्परा से विकसित सिद्धान्त से करना तर्कसंगत नहीं। 'गोदान' और 'द सेकण्ड सेक्स' दो भिन्न परम्पराओं की रचनाएँ हैं। किसी एक के अनुकूल सिद्धान्त से दूसरे का मूल्यांकन - दोनों के साथ अन्याय है। इस परिदृश्य में आज साहित्य के लिए सिद्धान्त की आवश्यकता है या नहीं, यह प्रश्न प्रासंगिक हो चुका है। खासकर साहित्य की स्वायत्तता, लेखक व इतिहास की मौत और पाठ की महत्वपूर्ण है- जैसी घोषणाओं के परिदृश्य में यह विमर्श को आमंत्रित करता है। हमने अपने विवेचन के क्रम में ही देखा कि बाजारीकरण के वैश्विक रणनीति के कारण पूर्व की अंदर रहने वाली संस्कृति जब बाहर झलकने लगी है, तो साहित्य सिद्धान्त के समक्ष आने वाली कई चुनौतियाँ कई स्थितियों को विरोधाभासी तरीके से भी रखती हैं। या कह सकते हैं कि अलग-अलग स्थितियों से अलग-अलग तरह की चुनौतियाँ दिखती हैं।

बहरहाल, उत्तर आधुनिकता के लिए जालियाँवाला बाग कांड महज एक घटना हो सकती है, पर एक भारतीय के लिए यह एक प्रतीक है जिससे शोषणचक्र का दमनकारी पृष्ठभूमि जुड़ी हुई है। गरज यहाँ साहित्य के लिए यदि एकल (वैश्विक स्तर पर) साहित्य-सिद्धान्त उपयुक्त नहीं हैं तो इसका औचित्य भी पूर्णतः नकारा नहीं जा

सकता। सिद्धान्त आप न भी बनाएँ तो उसके आवश्यक घटक तो साहित्य में रहेंगे ही। आग्रह यही है कि साहित्य का मूल्यांकन आवश्यक है, पर उन्हीं मानदंडों से जिनका जन्म अपनी परम्परा से हुआ हो, क्योंकि उत्तर आधुनिकता जब आधुनिकता से भी आगे बढ़ कर रही है, तो शायद उसकी नजर में अफगानिस्तान, भूटान या सोमालिया जैसे जगह नहीं हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

परिभाषाओं का संघर्ष एडवर्ड डब्ल्यू- सईद, आलोचना, सहस्राब्दि विशेषांक (9), अप्रैल जून, 2002, पृष्ठ संख्या - 62

आलोचना की सामाजिकता आलोचना, सहस्राब्दि विशेषांक, अप्रैल-जून, 2002, पृष्ठ संख्या - 13

उपन्यास और लोक जीवन - रैल्फ फॉक्स, पृष्ठ संख्या - 11

आलोचना की सामाजिकता, आलोचना, सहस्राब्दि विशेषांक, अप्रैल-जून, 2002, पृष्ठ संख्या-9

नई सहस्राब्दी में साहित्य- समीक्षा - राजनाथ, आलोचना, सहस्राब्दि विशेषांक अप्रैल- जून, 2002

लिंग पूजन परम्परा एवं शिवमहापुराण

डॉ० सरोज रानी

एसोसिएट प्रोफेसर - प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कालेज, वाराणसी

लिंग पूजन परम्परा पर प्रकाश डालने से पूर्व शैव धर्म की प्राचीनता और उसके विकास के इतिहास का संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है। शैव धर्म को संसार का प्राचीनतम धर्म माना जाता है। अनेक इतिहासकारों ने इसकी प्राचीनता सैन्धव सभ्यता से स्थापित की है। इतिहासकार मार्शल के अनुसार शिव सैन्धव सभ्यता के प्रमुख देवता थे। सिन्धु प्रदेश से मैके महोदय को एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसके मध्य भाग में योग मुद्रा में एक चित्र अंकित है जिसके शीश पर त्रिशूल के समान कोई वस्तु है और उनके चारों ओर पशुओं के चित्र बने हुए हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि सम्पूर्ण दृश्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिव का चित्र है। इसलिए उनका कथन है कि सैन्धव सभ्यता में पशुपति अर्थात् शिव की उपासना प्रचलित थी। विद्वानों का विचार है कि शैव धर्म वैदिक एवं अवैदिक धाराओं के संगम का परिणाम है। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत ऋग्वेद का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इस काल में शिव के स्थान पर रुद्र का उल्लेख किया गया है जो अपेक्षाकृत महत्त्वहीन देवता के रूप में दृष्टिगत होते हैं। रुद्र रूप में अभिहित होने के कारण उनके रौद्र रूप की कल्पना ऋग्वेद में अनेक प्रकार से की गयी है। रुद्र की विध्वंसकारी शक्तियों से रक्षा के लिए ऋग्वैदिक आर्यों ने रुद्र की स्तुति की जिससे वे प्रसन्न होकर समस्त प्राणिमाष का कल्याण करें।¹ अतएव उनको शान्त करने के लिए ऋषिगण उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे अपने आयुधों को दूर रखें तथा मनुष्यों एवं पशुओं की रक्षा करें।²

उत्तर वैदिक काल में रुद्रोपासना का विकास तीव्र गति से हुआ। उन्हें शिवात्मक अर्थात् मंगलमय बताया गया और पर्वत पर शयन करने के कारण उन्हें गिरीश नाम से अभिहित किया गया।³ इस प्रकार उत्तरवैदिक समाज में रुद्र की लोकप्रियता में अत्यन्त वृद्धि दिखलायी देती है। अथर्ववेद⁴ और शतपथ ब्राह्मण⁵ में उन्हें सहस्राक्ष कहा गया है। रुद्र जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति और समस्त प्राणियों में व्याप्त थे। उनकी व्यापकता आकाश, पृथ्वी और समस्त दिशाओं में सर्वत्र मानी गयी थी। अथर्ववेद में उन्हें 'महादेव' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।⁶ वह भव के रूप में पूर्वी प्रदेश में, शर्व के रूप में दक्षिण में, पशुपति के रूप में पश्चिम में, उग्र के रूप में उत्तर में, रुद्र के रूप में भूतल पर, ईशान के रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त थे।⁷ अतः सम्पूर्ण सृष्टि में उनका संचार था और समस्त जगत उनके निर्देश से संचालित था। यजुर्वेद में रुद्र के भयंकर रूप का

चित्रण किया गया है। शतरुद्रिय सूक्त में शिव शंकर आदि नामों का उल्लेख किया गया है।⁸ सूत्र ग्रन्थों में रुद्र के बारह नाम उल्लिखित हुए हैं जिनमें कुछ नाम उनके रौद्र रूप को प्रकट करते हैं और कुछ नामों के द्वारा उनके मंगलमय रूप का प्रकाशन किया गया है।⁹ इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि सूत्र काल में शिव के दोनों स्वरूपों को प्रतिष्ठा दी हो चुकी थी। उपनिषदों में शिव के दर्शन और ज्ञानतत्त्व की मीमांसा की गयी है जो उनका सम्बन्ध ईश्वर, जीव और प्रकृति से स्थापित किया गया है।

पाणिनी के अष्टाध्यायी के माहेश्वर सूत्र से अनुमान किया जा सकता है कि इस समय शिव को एक महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी। साहित्य के अर्थशास्त्र में शिव की पूजा के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। रामायण में शिव शैव और रौद्र दोनों स्वरूपों का उल्लेख किया गया है किन्तु रौद्र रूप की अपेक्षा शैव स्वरूप की उपासना का अधिक प्रचलन था। भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को माहेश्वर, त्रिनेत्र, नीलकण्ठ आदि नामों के साथ वर्णित किया गया है।

शैव धर्म की सर्वाधिक प्रतिष्ठा वेदोत्तरकाल में विशेष रूप से पुराणों में दृष्टिगत होती है। वायु पुराण¹⁰ में उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है। पुराणों द्वारा शैव धर्म में लिंग पूजन की स्पष्ट परिकल्पना विकसित होती हुई दिखलाई देती है। इन ग्रन्थों में लिंग के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में लिंग का प्रारम्भ ब्रह्म से माना गया है। उस ब्रह्म का न तो कोई आकार प्रकार है न ही रूप है उसी ब्रह्म का प्रतीक चिन्ह साकार रूप में शिवलिंग है। जिस प्रकार ब्रह्म पूर्ण रूप से न समझ पाने के कारण अनेक प्रकार से उसकी व्याख्या की गयी है उसी प्रकार यह शिवलिंग व्यक्त भी है और अव्यक्त भी है। अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्ति को ब्रह्म की शिक्षा देना जब कठिन प्रतीत होता है तब व्यक्त मूर्ति की कल्पना की जाती है। शिवलिंग वही व्यक्त मूर्ति है। भारतीय मनीषियों ने ईश्वर के तीन रूपों व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। इसी भाव को लिंग पुराण में लिंग के तीन स्वरूपों में अभिव्यक्त किया गया है। यहाँ पर शिव के तीन रूपों का उल्लेख है उनका सृजन, पालन और संहार से जुड़ना। इसका भाव यही है कि शिव लिंग अर्थात् बीज रूप में इस सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। वही अव्यक्त लिंग पुनः लिंग के रूप में प्रकट होता है।

लिंग पूजन परम्परा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान मैकडोनेल¹¹ का विचार है कि लिंग पूजा का जो उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध होता है उसका शैव धर्म से समीकरण नहीं किया जा सकता है क्योंकि ऋग्वेद¹² में शिश्नपूजकों को हेय दृष्टि से देखा जाता था। यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः अनार्य समाज में इसका प्रचलन था। लिंगोपासना का उल्लेख महाभारत के अनुशासन पर्व में मिलता है जो सम्भवतः अनार्य प्रभाव के कारण उत्तर भारत पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने महाभाष्य में शिव की मूर्ति बनाकर पूजा करने का उल्लेख किया है। उन्होंने शिश्नपूजा का कोई भी संकेत नहीं दिया है।

पुराणों में लिंगपूजा का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। एक कथा में बताया गया है कि जब ब्रह्मा विष्णु के मध्य श्रेष्ठता के विवाद का प्रकरण चल रहा था तब उन्होंने दीप्तिमान अव्यक्त लिंग देखा — “अव्यक्तं लिंगं परमं दापितम्।”¹⁶ लिंग पूजा का स्पष्ट वर्णन मत्स्यपुराण¹⁷ में उपलब्ध होता है जिसके अनुसार बाणासुर ने शिवलिंग को शीश पर रखकर शिव की पूजा की थी। किन्तु पुराणों में शिव की पूजा लिंगाकार के साथ मानवाकार मूर्तियों के रूप में भी वर्णित है। लिंगाकार मूर्तियाँ अधिक संख्या में प्राप्त होती हैं जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय तक लिंग शिव के प्रतीक रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। शिव महापुराण¹⁸ में बताया गया है कि श्रवण, कीर्तन, मनन में असमर्थ मनुष्य शिव के लिंग (निष्कल) तथा विग्रह (प्रतिमा) का संस्थापन करके नित्य उनका पूजन करे तो वह संसार सागर से मुक्त हो जायेगा। इसी पुराण में उल्लिखित है कि विविध प्रकार से विधि विधानपूर्वक शिवलिंग का तथा उनकी प्रतिमा का पूजन करना चाहिए। बड़े-बड़े सिद्ध और तपस्वी लोग इस लिंगेश्वर की पूजा के प्रभाव से मोक्ष को प्राप्त करते हैं।¹⁹ शिव ब्रह्म रूप होने से निष्कल कहे जाते हैं और रूपवान होने के कारण वे कला सहित भी हैं। इस प्रकार वे निष्कल अर्थात् निराकार और सकल अर्थात् साकार दोनों प्रकार के हैं। निष्कल होने से उनका निराकार रूप लिंगस्वरूप कहा जाता है और सभी कलाओं से युक्त होने के कारण उनका साकार विग्रह स्वरूप कहा जाता है। सकल और निष्कल अर्थात् साकार और निराकार दोनों होने के कारण शिव को परम ब्रह्म कहा जाता है।²⁰ इसीलिये लोग सदाशिव की पूजा लिंग रूप तथा प्रतिमा रूप दोनों प्रकार करते हैं।

शिव महापुराण में शिवलिंग की उत्पत्ति की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्राचीन काल में जब लोक प्रसिद्ध महाप्रलय हो चुका था उस समय एक दानव से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये ब्रह्मा और विष्णु में परस्पर घनघोर युद्ध हुआ। उनके अहंकार को समाप्त करने के लिए उनके बीच में निराकार परमेश्वर ने स्तम्भ रूप में प्रकट होकर अपने स्वरूप का दर्शन कराया।²¹ भगवान शिव ने संसार के संसार की कामना से अपना तेजोमय लिङ्गाकार स्वरूप दिखाया। शिव भोग और मोक्ष का प्रदान करते हैं इसलिये लिङ्ग और प्रतिमा दोनों रूपों में पूजित होते हैं।²²

देवाधिदेव महादेव ने ब्रह्मा के घमण्ड को चूर करने के लिये अपने भीमोदक मध्य भाग से एक अद्भुत भयानक भैरव पुरुष की सृष्टि की। शिवजी उससे बोले— ब्रह्मा जो इस जगत का साक्षात् देवता है उसकी इस तलवार के तीक्ष्ण धार से पूजा करो यह सुनते ही भैरव ने ब्रह्मा जी का असत्य भाषी पांचवा सिर काटकर अपनी तलवार और सिरों को काटना चाहा। शिव के ऐसा करने पर विष्णु ने ब्रह्मा के लिए क्षमा प्रार्थना की। विष्णु के द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान सदाशिव ने भैरव को दण्ड देने से इंकार कर दिया और ब्रह्मा से बोले— तुमने पूजा की इच्छा से तथा ईश्वरत्व प्राप्ति की इच्छा से इस प्रकार के छल का आश्रय लिया इसलिये आज से जगत में न तो तुम्हारी

और न कहीं पर तुम्हारा स्थान और उत्सव होगा। किन्तु ब्रह्मा द्वारा क्षमा याचना पर प्रसन्न होकर उन्होंने ब्रह्मा को अनेक वरदान दिये। इसके पश्चात् ब्रह्मा और विष्णु ने अनेक प्रकार से उनका पूजन किया।²³ ब्रह्मा विष्णु के अज्ञान तथा परस्पर द्वेष मिटाने के लिए सदाशिव ने कहा— मेरे सकल तथा निष्कल भेद से दो स्वरूप धारण कर लो। मैंने प्रथम लिंग शरीर धारण किया पश्चात् मानव रूप धारण किया। मेरे दो रूप सिद्ध हैं जो अन्य किसी के नहीं हो सकते इसलिये तुम दोनों को ईश्वरता प्राप्त नहीं हो सकती।²⁴ वृहद् होने के कारण तथा शरीर का संवर्धन करने के कारण मैं ही ब्रह्म हूँ। अनुग्रह से लेकर सर्गान्त पर्यन्त पांचों भूत ईश्वर के ही हैं। इसलिये ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान कराने के लिए मेरे इस निष्कल रूप का आविर्भाव हुआ है। निष्कल होने से मैं अज्ञात हूँ किन्तु तुम लोगों को अपना स्वरूप दिखाने के लिए तथा प्रकट रूप से तुम्हें दर्शन देने के लिए मैं इस सकल साकार रूप से अवतरित हुआ हूँ। यह जो स्तम्भ रूप है वह मेरे ब्रह्मत्व का द्योतक है और निष्कल है।²⁵

लिंग पूजन की महत्ता का चिषण करते हुए कहा गया है कि इस लोक तथा जगत् में भोग प्राप्ति के लिये अथवा नित्य शाश्वत भोग प्राप्ति के लिए भगवान महादेव लिंग रूप से अवस्थित हैं उनका पूजन करना चाहिए। लोक को उत्पन्न करने के लिए लोक प्रसविता सूर्य शिवलिंग के चिन्ह हैं।²⁶

शिव महापुराण में उल्लिखित है कि शिवराशि के दिन जो लिंग (पिंडी) और शिवलिंग की पूजा करेगा— वह इस सृष्टि की उत्पत्ति, लय तथा पालन करने वाले ब्रह्मदेव का अनुग्रह प्राप्त कर सकेगा।²⁷ इसलिये लोगों को मार्गशीर्ष माह में आद्रा नक्षत्र में पार्वती शिवलिंग का अथवा शिवलिंग का दर्शन करना चाहिए। ऐसे मनुष्य शिव को कार्तिकेय के अधिक प्रिय होते हैं।²⁸ जो मनुष्य इस लिंग स्वरूप परमेश्वर की उपासना करेंगे वे भी उसी प्रकार की भुक्तियाँ प्राप्त होंगी।²⁹ शिव महापुराण में वर्णित है कि भगवान शिव लिंग शरीर धारण किया इसके पश्चात् मूर्तिमान रूप धारण किया। इसमें लिंग लिंग रूप है तथा विग्रह सगुण रूप है।³⁰ यह लिंग भुक्ति तथा मुक्ति का एकमात्र साधन है। इसके दर्शन, स्पर्श, ध्यान से जीवों के जन्म मरण का चक्र समाप्त हो जाता है। शिवलिंग की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ‘वे ही परमब्रह्म हैं, ब्रह्म होने के कारण वे ईश्वर हैं, व्यापकत्व के गुण के कारण परमात्मा हैं।’³² इसीलिये वे समस्त जीवों का अनुग्रह करते हैं। शिवलिंग साक्षात् शिव का स्वरूप है। इस लिंग पूजन से जीवों को मोक्ष का साधन प्राप्त होता है।³³ जिस स्थान पर शिवलिंग की प्रतिष्ठा की जाती है वह स्थान अप्रतिष्ठित अर्थात् निराकार होते हुए भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं।³⁴ शिव के लिंग रूप को प्रधान और प्रतिमा रूप को गौण माना गया है। इसलिये यजन करने वाले शिवलिंग की पूजा करना चाहिए क्योंकि उसका फल अधिक है अतएव मुमुक्षु जनों को शिवलिंग (पिंडी) की अपेक्षा लिंग का ही पूजन करना चाहिए।³⁵ लिंग मूर्ति महेश्वर

देवाधिदेव शंकर की पूजा का त्याग करने के कारण तारक के पुष बन्धु बान्धवों सहित नष्ट हो गये। इसीलिए मनुष्यों को लिंग मूर्ति वाले महेश्वर की श्रद्धा से पूजा एवं सेवा करनी चाहिए। जो भक्तिपरायण होकर शिवलिंग की पूजा करता है उसे सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वह किसी भी पाप से लिप्त नहीं होता है।³⁶ कर्मयज्ञ में प्रीति रखने वाले स्थूल लिंग की अर्चना करते हैं जिन्हें सूक्ष्म लिंग की भावना अशक्य है। ऐसे अज्ञानियों के लिए ही शिव का यह स्थूल विग्रह कहा गया है। जिसे आध्यात्मिक लिंग का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, वह इस स्थूल लिंग में परमेश्वर की कल्पना करे, उसके लिए और दूसरे उपाय नहीं है। सूक्ष्मलिंग ज्ञानियों को भाव से प्रत्यक्ष होता है।³⁷

शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख करते हुए इस ग्रन्थ में बताया गया है कि अनुकूल काल में किसी पुण्य तीर्थ में अथवा जलाशय के तट पर जहाँ नित्य पूजन की व्यवस्था हो, ऐसे स्थान पर विधिपूर्वक लिंग की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। शिव शास्त्रों में किये गये कल्पों के अनुसार लिंग का निर्माण कराना चाहिए। ऐसे लिंग की प्रतिष्ठा करने से उसकी पूजा का फल प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि लिंग सर्वलक्षण युक्त हुआ तो उसकी पूजा का फल भी तत्क्षण प्राप्त होता है।³⁸ सर्वलक्षण युक्त शिवलिंग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि लक्षणयुक्त पीठ पर (सिंहासन) लक्षणयुक्त शिवलिंग की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। लिंग को स्थापित करने का आसन मण्डलाकार तिकोना अथवा चौकोर अथवा जैसा उचित प्रतीत हो ऐसी पीठ पर (सिंहासन) स्थापित करने पर लिंग महाफलदायक होता है।³⁹ शिवलिंग की निर्माण सामग्री का इस प्रकार उल्लेख किया गया है "सर्वप्रथम मिट्टी, पत्थर अथवा लोहादि धातुओं से लिंग का निर्माण करना चाहिए और जिस धातु से लिंग निर्मित हो उसी धातु का सिंहासन भी निर्मित करवाना चाहिए। स्थावर लिंग की विशेषता है।⁴⁰ लिंग के पांचो स्थानों पर (चारों दिशाओं में तथा ऊपर) पांच मन्त्रों से पूजा करके अग्नि में वेदमन्त्रों से आहुति डालनी चाहिए।⁴¹ इस प्रकार शिवलिंग की स्थापना करके अनेक प्रकार से उसका पूजन करना चाहिए।⁴² इस पुराण में लिंग के सम्बन्ध में बताया गया है कि मनुष्य स्थापित लिंग में, स्वयं उत्पन्न हुए लिंग में उपचार पूर्वक पूजा करना चाहिए।⁴³ नियम पूर्वक शिवलिंग का दर्शन करने से शिवलोक की प्राप्ति होती है। शिव महापुराण से यह भी स्पष्ट होता है कि लिंग की स्थापना सभी स्थानों पर की जा सकती थी। इसका कोई निषेध नहीं था। शिवलिंग निर्मित करवाकर उसका दान भी किया जाता था और उसको बनाने वाले व्यक्ति को उसका मूल्य भी दिया जाता था।⁴⁴

इस ग्रन्थ शिव महापुराण में लिंग के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए स्वयम्भू लिंग, प्रतिष्ठा किये गये लिंग, प्राकृत लिंग आदि का उल्लेख किया गया है। जो वृक्षादि स्थावर पृथ्वी को भेदकर प्रकट होते हैं उसे स्वयम्भू लिंग कहा जाता है। लिंग स्वयं प्रकट होने के कारण स्वयम्भू लिंग कहलाते हैं।⁴⁵ महात्माओं, ब्राह्मणों, राजाओं एवं महाधनिकों ने जिसे शिल्पी द्वारा बनवाकर मन्त्रपूर्वक स्थापित किया हो उसे प्रतिष्ठा लिंग कहते हैं। ऐसे लिंग की पूजा से ऐश्वर्य तथा भोग की प्राप्ति होती है।⁴⁷ विभिन्न

प्रकार भी लिंग के प्रकारों का उल्लेख किया गया है। रसलिंग ब्राह्मणों के सम्पूर्ण ज्ञान को पूर्ण करता है। क्षयियों को बाणलिंग अत्यन्त शुभ है तथा सजन्म पद को देने वाला।⁴⁸ स्थर्ण निर्मित लिंग वैश्यों को समृद्धि प्रदान करता है और पाषाण निर्मित लिंग क्षत्रियों को अत्यन्त पविष करने वाला तथा शुभ है।⁴⁹ स्त्रियों विशेषकर सधवा स्त्रियों को पार्थिव लिंग पूजन करना चाहिए।⁵⁰ स्फटिक लिंग सभी की कामनाओं को पूर्ण करता है।⁵¹ लिंगों के लिए यदि अपने-अपने वर्ण के अनुसार लिंग की प्राप्ति न हो तो दूसरे वर्ण के लिंगों की पूजा की जा सकती है।⁵²

लिंग पूजन के सन्दर्भ में द्वादश ज्योतिर्लिंगों की संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। शिव महापुराण में द्वादश ज्योतिर्लिंगों की महत्ता का प्रकाशन करते हुए कहा गया है कि भगवान शिव लोककल्याण के लिए इस संसार में लिंग रूप में स्थित हैं। सभी स्थानों पर लिंग हैं तथा अन्य अनेक स्थलों पर लिंग रूप धारण कर महेश्वर संस्थित हैं।⁵³ पृथ्वी पर लिंग हैं उनकी गणना नहीं की जा सकती है किन्तु उनमें द्वादश ज्योतिर्लिंगों का रूप से उल्लेख किया जा सकता है। सौराष्ट्र में सोमनाथ, श्रीशैल पर मल्लिकार्जुन, हिमालय में महाकाल तथा ऊँकार में परमेश्वर नामक ज्योतिर्लिंग हैं।⁵⁴ हिमालय पर केदार, गङ्गा में भीमशङ्कर, वाराणसी में विश्वेश्वर, गौतमी नदी के तट पर यम्बकेश्वर, नर्मदा में वेधनाथ, दारुकावन में नागेश, सेतुबन्ध में रामेश्वर तथा शिवालय में लिंग नामक ज्योतिर्लिंग हैं। जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर इन बारह ज्योतिर्लिंगों का दर्शन करता है वह सभी पापों से मुक्त होकर सिद्धि प्राप्त करता है।⁵⁵ इस प्रकार शिवलिंग पूजा का साकार प्रकटीकरण है। इसका प्राकट्य प्रथमतः ज्योतिर्मय था जो बाद में द्वादश ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थापित हुआ। अपने आधारभूतपीठ के साथ लिंग सृष्टि के कारण रूप प्रकृति पुरुष संयोग का अनुपम विग्रह है।

इस प्रकार पुराणों के आधार पर कहा जा सकता है कि पुराणों में विशेष रूप से शिवलिंग पूजा में वेदोत्तरकालीन शैव धर्म के अन्तर्गत लिंगोपासना का पूर्ण निदर्शन होता है। पूजन परम्परा के द्वारा इस पुराण में शिव के दार्शनिक तथा लोकप्रचलित दोनों रूपों का वर्णन किया गया है। दार्शनिक रूप में शिव के अव्यक्त स्वरूप को और लोकप्रचलित रूप में उनके व्यक्त स्वरूप को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इस प्रकार शैव धर्म के रूप में दृष्टिगत होता है। इस शोधपत्र के निष्कर्ष रूप में शैवधर्म के प्रकाशन करते हुए स्कन्दपुराण में उल्लिखित पंक्तियों को उद्धृत किया गया है जिसमें बताया गया है कि पशुपति, सर्वज्ञ, सर्वतत्त्वों के मूलतत्त्व सनातन धर्म में कहा है कि "सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से भी पहले मैं प्रथम ईश्वर था, वर्तमान ईश्वर हूँ और भविष्य में भी मैं एकमात्र ईश्वर रहूँगा।"

शिवमहापुराण 1.2.7-8:

सर्वतत्त्वानां तत्त्वभूतः सनातनः ॥

शिवमहापुराण 1.2.7-8:

- 1- मार्शल, मोहनजोदड़ो एन्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, पृष्ठ 52-55
- 2- मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहनजोदड़ो, पृष्ठ 3
- 3- ऋग्वेद 1.114.10;
- 4- ऋग्वेद 1.114.11;
- 5- तैत्तिरीय संहिता 4.5.1; वाजसनेयी संहिता 16.1;
- "याते...गिरीशन्ताभिचाकशीहीति"- सायण भाष्य-गिरौशेते गिरीश
- 6- अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना। अथर्ववेद 11.2.7;
- 7- रुद्रः सहस्राक्षः शतेषुधिर धिज्यधन्ता। शतपथ ब्राह्मण 9.1.1.6;
- 8- अथर्ववेद 6.44.3; 19.10.6;
- 9- अथर्ववेद 15.5.1-7;
- 10- यजुर्वेद 10.2; 39.9;
- 11- पा.गृ.सू.-3.15;
- 12- देवेषु महान देवो महादेवस्ततः स्मृतः। वायु पुराण 5.41;
- 13- अलिंग चैव लिंग च लिंगालिंगानि मूर्तयः।। लिंगपुराण 1.2.7;
- 14- मैकडोनेल - हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर - पृष्ठ 155
- 15- ऋग्वेद 7.21.5; 10.99.3;
- 16- शिशनेन दीव्यति क्रीडन्ति इति शिशनेदेवा अब्रह्मचर्या इत्यर्थः।- सायण भाष्य
- 17- मत्स्यपुराण 60.4; ब्रह्माण्डपुराण 2.26.21; वायुपुराण 55.21;
- 18- उत्थितः शिरसा कृत्ता लिंगः। मत्स्यपुराण 188.61;
- 19- श्रवणादिविकेऽशक्तो लिंगबेकं च शांकरम्। संस्थाप्य नित्यभम्यः तरते संसार सागरम्।। शिवमहापुराण विघ्नेश्वर संहिता, पंचमऽनद -1
- 20- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, पंचम अध्याय 3-6;
- 21- रूपित्वात् सकलस्तद्वत् तस्मात् सकल निष्कलः। निष्कलत्वान्निराकारं लिंगं समागतम्।। शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, पंचम अध्याय 10-12
- 22- तयोर्मान निराकर्तुं तन्मध्ये परमेश्वरः। निष्कल स्तम्भरूपेण स्वरूपं समदर्शयति। शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, पंचम अध्याय- 28;
- 23- अहमेव परं ब्रह्म मत्स्यरूपं कलाकलम्.....।
अनुग्रहाघ सर्गान्तं जगत्कृत्यं च पंकजम्।
- 24- भगवन्तं महादेव शिवलिंगं प्रपूजयेत्। लोकप्रसविता सूर्यस्तच्चिन्हं प्रसवाद् भोडश अध्याय - 104;
- 25- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, नवम् अध्याय-11;
- 26- शिवमहापुराण, नवम् अध्याय - 16;

- 1- सायुष्यमिति पञ्चैते क्रिय दीना फलमतम्। नवम् अध्याय- 27;
- 2- शिवमहापुराण, नवम् अध्याय- 31;
- 3- मत्प्रसादेन लोकेषु सर्वोप्यर्थः प्रकाशते। 34;
- 4- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, नवम् अध्याय - 37;
- 5- नवम् अध्याय - 43;
- 6- नवम् अध्याय - 44;
- 7- शिवमहापुराण, दशम् अध्याय -37;
- 8- शिवमहापुराण रुद्र संहिता एकादशोऽध्याय, 12-25;
- 9- एवं विधानि लिंगानि दधानि विश्वकर्मणा। शिवमहापुराण रुद्र संहिता, सृष्टि खण्ड, एकादशोऽध्यायः - 30-36;
- 10- रुद्र संहिता, सृष्टि खण्ड, द्वादश अध्याय 50-54;
- 11- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, एकादशोऽध्याय 2-4;
- 12- मण्डलं चतुरस्तं वा षिकोणमथवा तथा। एकादशोऽध्याय - 6;
- 13- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, एकादश अध्याय - 7;
- 14- शिवमहापुराण, एकादश अध्याय- 13;
- 15- एकादश अध्याय - 24;
- 16- शिवमहापुराण, एकादश अध्याय - 30;
- 17- विघ्नेश्वर संहिता, एकादश अध्याय - 33;
- 18- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, एकादश अध्याय, 34-35;
- 19- विघ्नेश्वर संहिता, अष्टादश अध्याय - 31;
- 20- शिवमहापुराण, अष्टादश अध्याय - 32-33;
- 21- विघ्नेश्वर संहिता, अष्टादश अध्याय 41-42;
- 22- शिवमहापुराण, विघ्नेश्वर संहिता, अष्टादश अध्याय - 48;
- 23- विघ्नेश्वर संहिता, अष्टादश अध्याय - 49;
- 24- शिवमहापुराण विघ्नेश्वर संहिता, अष्टादश अध्याय- 50;
- 25- विघ्नेश्वर संहिता, अष्टादश अध्याय - 51;
- 26- शिवमहापुराण, कोटिरुद्र संहिता, 14-15;
- 27- शिवमहापुराण, कोटिरुद्र संहिता-21;
- 28- शिवमहापुराण, कोटिरुद्र संहिता 22-23;
- 29- कोटिरुद्र संहिता - 24;

मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक (सामन्ती) परिवेश में मीरा-भक्ति की दार्शनिक व्याख्या

डॉ. श्रुति दूबे

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, आर्य महिला पी. जी. कालेज, वाराणसी

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन अपने युग का एक महान सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन था। इस भक्ति आन्दोलन का सम्बन्ध लोकजागरण से जोड़ा जाता है, यद्यपि इस भक्तिकाल में छिपे आन्दोलन और इससे प्रेरित भक्तिकाल की क्रान्तिकारी विषय-वस्तु धर्म के आवरण में, धर्माचार्यों, सन्तों और भक्तों की रचनाओं के माध्यम से प्रकट हुई।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन भारतीय समाज में युगों से परतन्त्र समुदायों की आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का आन्दोलन था, इसलिए विभिन्न क्षेत्रों की मातृभाषाओं में पहले-पहल बहुत बड़ी संख्या में स्त्रियों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में काव्य-रचना का विकास दृष्टिगत होता है। इस काल में अनेक कवियत्रियाँ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न हुईं जिनमें से कुछ ने भाषा की नयी परम्परा के साथ स्त्री रचनाधर्मिता के विकास का मार्ग भी प्रशस्त किया। यह सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलन भावनापरक था। मीरा ने इस युग में नारी अभिव्यक्ति को नवीन आयाम दिये। भक्ति में नारी-पुरुष में भेद नहीं होता, दोनों ही अंशों के अंश हैं वहीं तदयुगीन सामन्ती व्यवस्था में नारी विशेषकर उच्चवर्गीय नारी को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ रखा था। मीरा के जीवन का यही मूल-संघर्ष था कि यदि वे राणाकुल जो कि सामन्ती व्यवस्था का पोषण करती थी उसकी स्त्री न होती तो उनका रुढ़िग्रस्त समाज उनके संतों के बीच बैठने पर प्रतिकुलित न होता।

सामन्ती दृष्टिकोण तो नारी को मात्र भोग्या समझता है, एक देह-मात्र, उसकी पूर्णता में समझने-देखने का सामर्थ्य उसमें है ही नहीं। परिणामस्वरूप नारी को जेल में कैद कर ली जाने वाली एक वस्तुमात्र बन कर रह गयी। लोक-लाज, मर्यादा, कुल-परम्परा को तोड़ने की बात जो अनेकानेक बार मीरा की रचनाओं में की गयी है वह अकारण नहीं है, वस्तुतः यह उस बंधनग्रस्त नारी की अन्तर्व्यथा है जो इस व्यवस्था में अभिव्यक्त हुई—

“लोक लाज कुलरां मरजादा जग मां णेक राख्या री।
साज सिंगार बांध पग घूँघर लोकलाज तज नाची।
लोकलाज की काण न मानूं।
लोक कह्या मीरा भई बाँवरी साधु कह्या कुल नासा री।
थारे कारण जग जण त्यागा लोकलाज कुल डारां।।”

प्रखर प्रवाह में लोक और वेद बह गये, लोकलाज और कुलकानि बिसर गयी, मीरा का डर घूट गया।

मीरा का संघर्ष असाधारण संघर्ष है। विरोधी परिस्थितियाँ, शक्तियाँ और अपनी निरबल स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने कहा है—

“तन की आस कबहुँ नहिं कीन्हों ज्यों रण माहीं सूरों।”

जाए तो इस विकल्पहीन व्यवस्था में विकल्प खोजने का संघर्ष ही मीरा का विद्रोह था और इस हेतु संकल्प की जीवनीशक्ति उन्हें अपनी भक्ति से मिली है—

“हरि तुम हरौ जन की भीर
द्रौपदी की लाज राखी तुरत बाघौ चीर।
भवत कारण रूप नरहरि घर्यौ नाहिं धीर।
बूड़तो गजराज राख्यौ, कियौ बाहर नीर।
दासी मीराकाल गिरधर चरण कँवल पै सीर।।”

मीरा की स्वातंत्र्याकांक्षा जितनी आध्यात्मिक है उतनी ही सामाजिक भी है। सामन्ती मनोवृत्ति उस युग का वैशिष्ट्य है। इस लोलुपता की पराकाष्ठा हमें मीरा की जीहान, अलाउद्दीन खिलजी, रतन सिंह आदि में दिखायी देती है। परतंत्रता की लोभ में जब मीरा को ससुराल पहुँचते ही पहनाने का प्रयास किया गया तो उसे स्वीकारते हुए उन्होंने सम्पूर्ण सामन्ती समाज के उस मनोविज्ञान पर आघात था जिसके द्वारा अपनी शक्ति-परम्पराओं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के साथ-साथ दूसरे को छोटा सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। इसी मनोविज्ञान पर प्रहार करते हुए मीरा ने अपने जीवन के उपहास के विरोध में देवी-पूजा से इंकार कर दिया। वस्तुतः देवी-पूजा के द्वारा स्थापित व्यवस्था मीरा को समाज की वह जड़ता दृष्टिगत हुई थी जिसके माध्यम से स्त्री को दूसरे के घर में कदम रखते ही दमित करने का षडयन्त्र रचा जाता था। मीरा की व्यवस्था की न लांघ पाने वाली सीमाओं एवं मध्ययुग के व्यापक रुढ़िवादी मान्यताओं में प्रेम दीवानी मीरा का ऐकान्तिक विद्रोह निश्चय ही धन्य था।

मीरा को काँटों से भरे करील वृक्ष के समान समझती हैं, उसके शहर का परित्याग करने पर आभरणों की तिलांजलि देकर वे गिरिधर नागर के प्रति समर्पित हो गयीं। मीरा ने पुण्य प्रताप से विष को भी अमृत बना दिया था। मीरा की भक्तिमार्ग में जो बाधा थी मीरा ने उसका विरोध किया—

“नहिं भावै थॉरो देसलडो रंगरूडो।
थॉरा देसाँ में राणा साध नहिं छै, लोग बसै सब कूडो।
गहणा गांठी राणा हम सब त्यागा, त्याग्यो कररो चूडो।
काजल टीकी हम सब त्याग्या, त्याग्यो छै बाधन जूडो।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बर पायो छै पूरो।।”

सिसोदिया राणा से विद्रोह का स्वर मुखरित है, जब वे कहती हैं—

सिसोधो रूठ्यो तो म्हॉरो काई कर लेसी।

राणोजी रूठ्यो बाँरो देस रखासी

हरि रूठ्या कुम्हलास्यां हो माई।

लोकलाज की काण न मानूँ।

निरभै निसाण घुरास्यां हो माई।।

तद्युगीन सामंती परिवेश में ऐसी प्रबल चुनौती अकल्पनीय है और यही विद्रोह मीरा के काव्य की जीवनीशक्ति है। एक विवेक संयत नारी की अपेक्षा उनमें एक ऐसी नारी दृष्टिगत होती है जिसकी पीड़ा एक प्रबल आक्रोश के रूप में प्रकट हुई है, जब वे कहती हैं

लोकलाज कुल काण जगत् की दइ बहाय जस पाणी।

अपने कुल का परदा कर ले, मैं अबला बौराणी।

तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे, गरक गयो सनकाणी।।

‘अपने कुल का परदा कर ले’ पंक्ति में छिपे दंश और भर्त्सना को स्पष्टतया अनुभव किया जा सकता है।

मीरा ने पर्दा-प्रथा की बेड़ी भी अपने ही हाथों तोड़ी और चुनौती दे डाली कि चाहे जितना अत्याचार हो वर्जनायें नहीं मानूँगी—

‘मारो चाहै घाँड़ो राणा नहिं रहूँ मैं बरजी।’

वस्तुतः मीरा ने स्त्री-जाति को दृढ़ता का पाठ पढ़ाया। मानसिक परतंत्रता का त्याग कर प्रेम का उच्चादर्श सामने रखा, परम्परा से चली आ रही गलत रूढ़ियों को तोड़ा, मान-सम्मान के मूल्य पर जीने की शिक्षा दी, पुरुष की चेरी बनने से रोकने का साहस उत्पन्न करते हुए नारी के सम्मान और गौरव को जीवित रखते हुए उसकी नवीन प्राण-प्रतिष्ठा की।

दर्शन तथा काव्य दोनों का ही साध्य, साधन तथा विषय पृथक्-पृथक् होते हैं। यद्यपि मीरा के काव्य में भी दर्शन एक स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं है किन्तु दार्शनिक चिन्तन काव्य के माध्यम से हृदय में उतर आता है। मीरा के काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि से तात्पर्य उन अंशों से है जिसमें जीवन तथा विश्व के विभिन्न प्रश्नों का समाधान देना का प्रयास किया गया है। किसी काव्य में चिन्तन अथवा वैचारिक पक्ष का कितना योगदान है यही उसके दार्शनिक पक्ष की ओर इंगित करता है।

वस्तुतः मीराबाई के काव्य का दर्शन प्रेम ही है। प्रेम ही उनका मूल स्वर है। मीरा द्वारा किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त की व्याख्यायें प्रस्तुत न होते हुए भी उनके काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति सुलभ है। दार्शनिक तथ्यों का

मीरा को मीरा ने काव्यमयी भावना प्रदान की है और इस प्रकार दर्शन की जटिलताओं को सुबोध एवं सहज अभिव्यक्ति दी है।

मीरा की भक्ति दाम्पत्य भाव की भक्ति थी जिसका चरम विकास श्रीकृष्ण के रसिक रूप वर्णन में ही सम्भव था। श्रीकृष्ण की रूप छवि का वर्णन करते हुए मीरा कहती हैं—

‘मीरो नन्दनन्दन दीठ पड़या भाई।’

मीरा ने श्रीकृष्ण की वंशीवादन, चीर-हरण, पनघटलीला आदि का वर्णन किया है। वस्तुतः बहुत से दार्शनिक सिद्धान्तों एवं भक्ति सम्प्रदायों का सम्मिश्रण करके मीरा अपने आराध्य का निरूपण किया है।

जीव की तीन प्रकार की कोटियाँ वल्लभीय सम्प्रदाय के अधीन बतायी गयी हैं—

पुष्टि 2) मर्यादा 3) प्रवाह जीव। ईश्वरीय कृपा पात्र स्वभावतः भगवद्भक्ति में लीन जीव पुष्टि जीव कहलाते हैं।

सन्मार्गों तथा वेदाध्ययन में निरत जीवों को मर्यादा जीव तथा निरुद्देश्य जीव माना जाता है। यथार्थ-यापन करने वाले प्रवाह-जीव कहलाते हैं। तथापि जीव को वेदान्त के अनुसार का ही अंश स्वीकार किया जाता है, वहीं ब्रह्म अपनी लीलावश भौतिक शरीर धारण करने पृथ्वी पर अवतरित होता है। यह माया ही है जिसके कारण जीव ब्रह्म से पृथक् प्रमाणित होता है किन्तु तत्त्वतः जीव ब्रह्म का ही अंश है। मीरा इस संदर्भ में कहती हैं—

“म्हारे आज्यो जी रामों, थारे आवत आस्यो सामों।

तुम मिलिया मैं बोही सुख पाऊँ, सरै मनोरथ कामों

तुम बिन हम बिन अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।

मीरा के मन और न माने चाहे सुन्दर श्यामा।।”

ईश्वरीय कृपा को जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्ति हेतु वल्लभीय सम्प्रदाय में अत्यधिक माना गया है। मीरा ने अपने पदों में अनेकानेक बार अपने आराध्य से अपनी कृपा का वर्णन करते हुए अपने उद्धार की प्रार्थना की है—

“ये बिछड़या म्हाँ कलपा प्रभुजी, म्हारो गयो सब चैण।

मीरा रे प्रभु कबरे मिलोगे, दुःख मेटण सुख दैण।।”

“मैं तो तोरे चरण लागी गोपाल।

जग लागी तब कोउ न जाने, अब जानी संसार

किरपा कीजौ दरसण दीजौ, सुध लीजौ तत्काल।

मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहार।।”

इस संदर्भ में वल्लभीय सम्प्रदाय की मान्यता है कि ब्रह्म जगत् के रूप में अवतरित होता है और सत् स्वरूप बना रहता है। जगत् ईश्वर के सत् अंश का ही रूप है। मीरा कहती हैं—

भज मन चरण कमल अविनासी।

× × ×

“या देही या गरबणा करजा, माटी मां मिल जासी।
यो संसार चहर रो बाजी, साँझ पड़्या उठ जासी।।”

और

जग मां जीवणा थोड़ा, कुणो लयां भवभार।
माता पिता जग जनम दिया री, करम दिया करतार।
खायां खरचा जीवण जीवां, कोई कर्या उपकार।
साधो संगत हिरगुण गास्यां और णा म्हारी लार।
मीरा रो प्रभु गिरधर नागर, थे बल उत्तरया पार।।

वल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति को पुष्टि सम्प्रदाय भी कहा जाता है। वल्लभीय दर्शन के अनुसार भक्ति मार्ग में ईश्वर-कृपा या पुष्टि का सर्वाधिक महत्व है। वल्लभीय सम्प्रदाय के अंतर्गत नवधा भक्ति का उल्लेख आता है। इसके अंतर्गत भक्ति के नौ मार्ग बताये गये हैं— श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन। इन भक्ति सोपानों का दर्शन मीरा-काव्य में किया जा सकता है।

सहस्यानुभूति एक अन्य दार्शनिक पक्ष है जिसका उद्घाटन मीरा के काव्य में हुआ है। रहस्यवाद मनुष्य की उदात्ततम एवं उत्कृष्टता अनुभूतियों में से एक है। वस्तुतः ईश्वर प्रापित का उद्देश्य है— ‘द्वैत-भाव को समाप्त करना।’

रहस्यवाद साधक तथा साध्य के मध्य की दूरी समाप्त कर देता है। मीरा की भक्ति माधुर्य भाव की है जिसमें उनके तथा उनके प्रियतम श्रीकृष्ण के बीच कोई दुराव नहीं है। प्रेम का यह अद्वैत भाव मीरा की इन पंक्तियों में दृष्टिगत होता है—

“पिया अब आज्यो मेरे, तुम मोरे हूँ तोरे।

मैं जण तेरा पंथ निहारूँ मारण चितवत तोरे।

अवध बदीती अजहूँ न आये, दुतियत सू नेह जोरे।

मीरा कहे प्रभु कबरे मिलोगे, दरसण विन दिन दोरे।।”

मीरा तो अपने श्याम को अपने से पृथक् ही नहीं मानती। वह तो ऐसा मानती है कि उनका प्रियतम तो उनके ‘हिथड़े’ में ही बसा हुआ है, फिर भला वे उसे पत्र क्यों लिखें—

जिणरो पियां परदेस बस्थारी लिख-लिख भेज्यां पाती।

म्हारा पिया म्हारे हियड़े बसतां णा आवौं णा जाती।

मीरा रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवां दिण राती।

मीरा रहस्यवादी प्रेम में पूरी तरह आप्लावित प्रतीत होती है, जब वे अगम देश की धर्पण करती हैं—

‘भरां प्रेम रा हौज, हंस कैल्या करौं।’

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मीरा के काव्य में बहुत से दर्शनों एवं भक्ति सम्प्रदायों का सहज सम्मिश्रण सुलभ है तथापि वल्लभीय सम्प्रदाय के अधिकांश दर्शन मीरा काव्य में मिल जाते हैं, तथापि ये सदैव ध्यातव्य है इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि उन्होंने वल्लभीय सम्प्रदाय की मान्यताओं का पालन किया था। पुनः, लौकिकता विमुख हो कर मीरा ने श्रीकृष्ण के प्रति जो औत्सुक्य, विस्मय जिज्ञासा एवं लालसा व्यक्त की है वह एक प्रकार की दिव्यानुभूति है क्योंकि इसका संबंध अलौकिकता शक्ति से है। इस अलौकिक शक्ति की सहस्रयोनमुखी भावना का भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य यही है।

निराला की सौन्दर्य चेतना

डॉ० सुमन तिवारी

अंशकालिक प्रवक्ता, आर्य महिला पी० जी० कालेज, वाराणसी।

'वाचस्पति कोश' में सौन्दर्य की उत्पत्ति 'सु' उपसर्ग 'उन्द' धातु और 'अरनय' प्रत्यय से बतायी गई है। 'उन्द' का अर्थ 'आर्द्र करना' है। 'अरनय' कर्तृवाच्य का प्रत्यय है। 'सु' का अर्थ होता है सुष्ठु या भली भाँति। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से निर्मित शब्द सुन्दर का अर्थ है भली भाँति आर्द्र करने वाला अर्थात् जो चित्त को अच्छी तरह प्रसन्न करता है। उसे सुन्दर कहते हैं। इस सुन्दर का आर्द्र करने वाला अथवा प्रसन्न करने वाला गुण ही सौन्दर्य कहलाता है। सामान्यतया 'सौन्दर्य' वस्तु का ऐ गुण विशेष है जो मन को आकृष्ट और मुग्ध करता है। इसमें चितोकर्षकता और मनोमुग्धकारिता के गुण वर्तमान होते हैं। वस्तुतः सौन्दर्य एक विशिष्ट बोध है। जिसके पीछे ज्ञान आनन्द, कियात्मकवृत्ति आदि का सामंजस्य है। सौन्दर्य की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द स्वतंत्र कोटि का होता है लेकिन उसकी अनुभूति जितनी सहज सरल तथा आनन्ददायिनी है उसे परिभाषित करना उतना ही जटिल है। 'सौन्दर्य' को परिभाषित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है। मन के लिए भीतर की वस्तु है। यूरोपिय कलासमीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गयी है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बड़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायेगी।" प्रकृति सौन्दर्य के सुकुमार कवि सुमित्रानन्द पंत का दृष्टिकोण यह है कि

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार
स्वरो में ध्वनित मधुर, सुकुमार सत्य ही प्रेमोद्गार
दिव्य सौन्दर्य स्नेह साकार भावनामय संसार।।^१

सौन्दर्य सम्राट 'प्रसाद जी' सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते हैं।

"उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।"^२

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "अन्तः बाह्य के सामंजस्य में ही सौन्दर्य की कल्पना की है। सुन्दरता सामंजस्य में होती है और सामंजस्य का अर्थ होता है। किसी चीज का बहुत अधिक और किसी का बहुत कम होना। इसमें संयम की अत्यवश्यकता होती है इसीलिए सौन्दर्य प्रेम में संयम होता है। उच्छ्रंखलता नहीं। पाश्चात्यविचारक प्लेटो ने सौन्दर्य को शिव-तत्त्व से निष्पन्न मंगल विधायक माना है। "क्रोचे ने अभिव्यंजना में ही सौन्दर्य का अस्तित्व स्वीकार किया है।" इस प्रकार यह स्पष्ट

होता है कि सौन्दर्य मात्र आंखों से दृश्य नहीं होता इसके लिए मानसिक दृष्टि की भी आवश्यकता होती है। साथ ही हार्दिक भावों को भी जोड़ना आवश्यक होता है।

सौन्दर्य साहित्य का आवरण होता है। साहित्य का उद्गम और अवसान दोनों सौन्दर्य से होता है। साहित्य सौन्दर्य अमर होता है। आत्मा अमर है। साहित्य में उसी सौन्दर्य चित्रित है, इसीलिए उसे अमरत्व प्राप्त है। कालिदास की 'शकुन्तला' तुलसीदास की 'राम प्रसाद की 'देवसेना', और श्रद्धा आज भी उतने ही सुन्दर और प्रिय है। जितने वे अपने काल में थे। साहित्य में सौन्दर्य का उपगोभमय रूप प्रस्तुत नहीं होता है वरन् साहित्य को उपासना के योग्य पावन और उदात्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके कर्षण में वासना और पाप की ज्वालानहीं पवित्रता और सरलता की शीतलता होती है। साहित्य में सौन्दर्य के अन्यतम महत्त्व को लक्ष्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखा है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्थाज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार रस की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए साहित्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।" हृदय को मुक्तावस्था तक पहुँचाने का कार्य सौन्दर्य के द्वारा ही होता है जिस सौन्दर्य की भावना को साहित्य मनुष्य अपनी पृथक सत्ता को विस्मृत कर देता है। इससे स्पष्ट होता है कि साहित्य मनुष्य की सौन्दर्य साधना है।

छायावादी काव्य रीतिकालिन स्थूल ऐन्द्रिकता, संकुचित दृष्टिकोण, काव्य शैली, पांडित्य प्रदर्शन तथा द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता और शुष्कता के प्रति निराला की परी परिवर्तन है। इसीलिए इस काल के कवियों ने सूक्ष्मता और सौन्दर्य पर अधिक बल दिया है। जो इस युग के कवियों का धर्म बन गया है और प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा के काव्य की सफलता का कारण भी बना। सौन्दर्य के प्रति बाल्य सुलभ आकर्षण और जिज्ञासा की अपूर्व अभिव्यक्ति पंत की 'सन्ध्या' शीर्षक कविता में परिलक्षित होती है।

"कहो तुम रुपसी कौन ?

व्योम से उतर रही चुपचाप

छिपी निज छाया-छवि में आप,

सुनहरा फैला केश-कलाप

मधुर मन्थन मृदु मौन।।"^३

प्रसाद ने 'कामायनी' ने नारी का ऐसा चित्र उपस्थित किया है कि लगता है नारी का रूप चित्रण प्रकृति का चित्र हो—

विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम, शशी, खण्ड सदृशथा स्पष्ट भाल।

दो पदम पलाश चषक से दृग, देते अनुराग विराग ढाल।"^४

महादेवी वर्मा ने काव्य के इस मध्य से सम्बद्ध उदाहरण निम्नांकित है—

"ओ विभावरी।

चांदनी का अंगराग,

मांग में सजा पराग,
रश्मि तार बंधे मृदुल
चिकुर भार री" ।।

महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में ज्योत्सना स्नात रात्रि पर वासे सज्जा नायिका का आरोप किया गया है। छायावादी कवि सौन्दर्य के प्रति अधिक आग्रही रहे हैं। निराला ने भी सौन्दर्य का पर्याय चित्रण अपने काव्य में किया है। 'जुही की कली' कवि की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। अपनी सौन्दर्यप्रियता के सम्बन्ध में स्वयं उन्होंने लिखा है कि "बचपन से औरो की तरह मैं भी निष्काम था, इसीलिए सभी प्रकार के सौन्दर्य को देखने और उनसे परिचित होने के अतिरिक्त मेरे अन्दर दूसरी कोई प्रेरणा ही नहीं उठती थी क्रमशः ये संस्कार बन गये, वे ही मेरे साहित्य में प्रतिफलित हुए।"¹² इसीलिए निराला के काव्य में हर प्रकार का सौन्दर्य अभिचित्रित है। उनके काव्य में सौन्दर्य भावना रजत की भाँति उज्ज्वल है। दुपहरी की सुलगती धूप, फूलों से लदा उपवन, ठूँठ वृक्ष अभिसारिका के लिए प्रस्तुत अलंकृत नायिका, पसीने से लथपथ पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन, बलशाली राम, भूख से तड़पते भिक्षुक, सभी में कवि ने सौन्दर्य निहार है। प्रकृति के माध्यम से नारी सौन्दर्य की रूपायित करने की प्रथा पुरानी है किन्तु, जो सूक्ष्मता और स्पष्टता निराला के सौन्दर्य चित्रण में है वह अन्यत्र कम उपलब्ध है। 'जुही की कली' शीर्षक कविता में कवि ने प्रकृति के माध्यम से तरुणी का चित्रण किया है

"विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्नः
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।"¹³

निराला जी ने अपने प्रबंध प्रतिमा में विद्यापति और चण्डी दास की तुलनात्मक आलोचना करते हुए सौन्दर्य शास्त्र के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त की ओर संकेत किया है कि "कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक रखकर उसका विश्लेषण भी करे और फिर इच्छा के अनुसार उससे मिलकर एक भी हो जाए। विद्यापति में ये कवि के दोनो गुण थे। वे सौन्दर्य के द्रष्टा जबरदस्त थे और सौन्दर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनमें अलौकिक थी। इस प्रकार निराला ने सौन्दर्य भावना में अपेक्षित आंशिक तटस्थता और पार्थक्य का सुचिन्तित संकेत किया है। तदनन्तर उन्होंने भावना के भीतर किये गये सौन्दर्य पर्यवेक्षण को महत्त्व दिया है।"¹⁴ निराला ने अपने काव्य में मात्र प्रकृति और नारी सौन्दर्य का ही चित्रण नहीं किया है वरन् पुरुष सौन्दर्य का रूपांकन भी किया है 'राम की शक्ति पूजा' शीर्षक कविता में वे राम के सौन्दर्य को कुछ इस प्रकार रूपायित करते हैं—

'रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत—चरण
दृढ जटा मुकुट है, विपर्यस्थ प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर बाहुलों पर वक्ष पर विपुल

उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएँ ज्यों ही कहीं पार।।"¹⁵

छायावाद के रूप में अरूप की ओर ऊर्ध्वगमन करने की प्रवृत्ति रही है। निराला ने भी 'प्रेयसी' और 'रेखा' शीर्षक कविताओं रूप में अरूप की ओर ऊर्ध्वगमन किया है।

मृदुलता हृदय में
काठिन्य वक्षस्थल में,
हाथों में निपुणता
शैथिल्य चरणों में।
दीख नहीं तब तक
एक ही मूर्ति में
तन्मय असीमता" ।।

निराला के काव्य में जीवन सौन्दर्य के प्रति विचार प्रकट किया गया है। इनका सौन्दर्य केवल कल्पना का विकास नहीं वरन् मानव के यथार्थ जीवन में छिपी भीषण कठोरता को रूपायित करने वाला उपादान भी है। सरोज स्मृति इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'निराला जी' के काव्य में विषय की जितनी विविधता है उतनी ही विविधता उनके सौन्दर्य वर्णन में भी रूपायित हुई है। ऐसा इसलिए कि निराला ने जीवन और जगत को विस्तृत फलक पर देखा है और इसलिए इस कवि की सौन्दर्य चेतना अन्य छायावादी कवियों की सौन्दर्य चेतना से भिन्न है। निराला ने परम्परा के प्रति विद्रोह का स्वर रखा है इसीलिए सौन्दर्यनुभूति के चित्रण में नवीनताएँ स्थान पा गयी हैं। सन्दर्भ—

1. निराला के काव्य प्रतिमान—डॉ० शशी प्रभा सिन्हा पृ० 205
2. रामचन्द्र शुक्ल—रसमीमांसा पृ० 24-25
3. पंत—पल्लव पृ० 87
4. प्रसाद—कामायनी
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी कल्पलता पृ० 147
6. B. Basanquet A History of Aesthetics
7. B. Basanquet A History of Aesthetice
8. प्रसाद—प्रतिध्वनि 'पाप की पराजय, पृ० 31-32
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'चिन्तामणि, भाग दो
10. पंत—युगान्त पृ० 57-59
11. जयशंकर प्रसाद 'कामायनी
12. गीतिका—भूमिका चतुर्थ संस्करण पृ० 5
13. निराला—परिमल
14. निराला—निरुपमा
15. निराला—अपरा

समकालीन हिन्दी कहानी में नारी का शोषित स्वरूप

डॉ० अनुपम गुप्ता

अंशकालिक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी० जी० कालेज,
चेतगंज, वाराणसी

इस सृष्टि के सृजनकर्ता के रूप में जब भी हम विचार करते हैं तो हमारे सामने दो ही स्वरूप स्पष्ट होते हैं। प्रथम सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर और दूसरी सृष्टिकर्ता के रूप में नारी। नारी अपनी सृजनशीलता के उदात्त गुण की वजह से प्रकृति के समतुल्य मानी जाती है, लेकिन कटु सत्य यह भी है कि अपनी इसी जैविक संरचना के चलते वह न जाने कितनी बार शोषित, उत्पीड़ित और लज्जित होती है। प्रकृति ने स्त्री-पुरुष की शारीरिक रचना में भिन्नता पैदा करके जितना रूपांतर किया है, शायद उससे कहीं ज्यादा नुकसान पहुँचाया है, मगर उसने भी ये नहीं सोचा होगा कि जिस भिन्नता का जन्म जीवन को जारी रखने और विकसित करने के लिए हुआ है, उसी के तहत एक शोषक और दूसरी शोषित हो जायेगी।

दरअसल नारी को महज सौन्दर्य और भोग की वस्तु समझने की यह प्रवृत्ति पुरुषों की आदिम प्रवृत्ति है। पुरुष ने स्त्री के खून में यह भावना संस्कार की तरह कूट-कूट कर भर दी है कि वह सिर्फ और सिर्फ शरीर है। वह शरीर के सिवा उसकी किसी और पहचान से इंकार करता है। स्त्री के संबंध में यह मानसिकता सिर्फ हिन्दू समाज की नहीं दुनियाँ की हर सभ्यता और हर धर्म में स्त्री जाति के प्रति लगभग यही रवैया है, क्योंकि हर समाज कमोवेश पुरुष प्रधान समाज है और इस समाज व्यवस्था ने ऐसे नियम कानूनों की सृष्टि की जिनके तहत नारी अबला और पुरुष के अधीन होकर रह गयी। जाहिर है जो अधीन होगा वह शोषित भी होगा।

आधुनिक व्यवस्था ने नारी शोषण के नये तरीके ईजाद किये हैं। उपभोक्तावादी समाज में वह पण्य वस्तु है। इस पूँजीवादी युग में नारी को 'माल' के रूप में तब्दील कर दिया गया है। स्त्री का अमानुषीकरण पूँजी में केन्द्रित हमारे युग की सबसे वीभत्स प्रक्रिया है। जिसकी ओर हमारा ध्यान इसलिए नहीं जाता क्योंकि वह हर क्षण घटती-बढ़ती रहती है। इस प्रकार नारी पराधीनता एवं शोषण विषयक तमाम शोध एवं विश्लेषण के बाद डॉ० अमरनाथ का निष्कर्ष है—“हमारे यहां नारी की पराधीनता दो तरह की है, एक सामंती ढंग की पराधीनता है तो दूसरी पूँजीवादी ढंग की पराधीनता।”

समकालीन कहानीकार समाज से जुड़कर चलते हैं और समाज की हर अच्छी-बुरी स्थितियों पर वे पैनी नजर रखते हैं। चूँकि वर्तमान साहित्य यथार्थ साहित्य

है अतः समकालीन कहानियों में नारी के शोषित रूप को दर्शाती कहानियाँ काफी संख्या में लिखी गयी हैं। वैसे इन कहानियों की शोषित नारी पात्रों में एक विशेषता जरूर दिखती है कि तमाम विपरीत परिस्थितियों में भी खुद के खिलाफ नहीं होती यानी इनमें संघर्ष करने की कूबत और जिजीविषा भरपूर दिखायी देती है। समकालीन कहानियाँ इसका प्रामाणिक दस्तावेज हैं।

प्रेम जहाँ एक पवित्र और खूबसूरत जज्बाई रिश्ता है वहीं छल-कपट का साथ देने वाला नृशंस नाटक भी दुष्ट व्यक्ति किस तरह प्रेम का भव्य नाटक रचकर उदार हृदय नारियों की सहृदयता और कोमलता का फायदा उठाते हैं इसे “रधिया” की पीड़ा से जाना जा सकता है।

आज के इस पूँजीवादी समाज में नारी अब इस्तेमाल की वस्तु से कहीं अधिक मुनाफा कमाने का जरिया बना दी गयी है और वह भी उसकी जिन्दगी की कीमत पर। ‘बोझ’ की सुमित्रा को ससुराल वाले दहेज के चलते जलाकर मार डालते हैं।

नारी अपने जीवन में कई बार उन अपराधों की सजा भुगतती है जिसकी जिम्मेदार वह स्वयं नहीं होती। बलात्कार एक ऐसा ही घृणित अपराध है। इस दृष्टि से ‘एक झटका हुआ सच’ की अर्चना, ‘मैं नारी हूँ’ की रंजना, ‘चीख’ की ‘वह लड़की’ आदि नारियाँ बलात्कार की शिकार हैं, किन्तु ये हालात से न हारकर बल्कि उससे जूझने का हौसला लेकर जिन्दगी की तरफ कदम बढ़ाती हैं।

अर्चना वर्मा की कहानी ‘जोकर’ में पांच वर्ष की सुगंधा परिवार के भीतर घटित होने वाले ‘इनसेस्ट’ की शिकार होती है। इसी कहानी की एक अन्य पात्र तेरह वर्ष की रामकली बाप की हवस का शिकार बनती है और थाने में जब बयान लिया गया तो बाप ‘ताल ठोंककर बोला कि पेड़ मैंने लगाया है तो फल भी मैं ही खाऊँगा’¹⁰ इसी कहानी में शकुंतला की सुंदरता उसके शोषण का कारण बनती है। दूधनाथ सिंह की कहानी ‘धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे’¹¹ यह साफ-साफ बयां करती है कि आम आदमी के लिए औरत का क्या वजूद है एवं उसकी नजर में उसकी हैसियत क्या है? सिउमहतो औरतों की खरीद-फरोख्त का धंधा करते हैं और अपनी बहू के बांझ होने का पता चलते ही उसका भी सौदा करने की सोचने लगते हैं।

‘भूख’¹² की जया के अप्रतिम सौन्दर्य को उसका पति ही कैश कराने लगता है। कमलेश्वर की ‘मांस का दरिया’¹³ वैश्याओं की मजबूरी का करुण चित्रण करती है।

सिर्फ वैज्ञानिक तरक्की किसी समाज की तरक्की का पैमाना नहीं होता, अगर ऐसा होता तो आज भी समाज में बेटी होने का अभिशाप लिए बेटियाँ डरी सहमी सी खड़ी न रहती। सत्य तो यह है कि अंधविश्वासों, झूठी महत्वाकांक्षाओं के ‘कीड़े’ अभी भी समाज में उसी प्रकार रेंग रहे हैं।

क्षितिज शर्मा के कहानी संग्रह ‘ताला बंद है’ की कहानियों में ‘गांठ’¹⁵, और ‘ग्रहण’¹⁶ महिला दमन एवं उत्पीड़न की दास्तां कहती है।

रामदरश मिश्र की कहानी 'हृद से हृद तक'¹⁷ में कथा नायिका का पिता अपनी लड़कियों से मशीन की तरह काम करवाता है और उन्हीं के बलपर पैसा कमाना चाहता है। 'जिंदा गोश्त'¹⁸ का पिता, पिता कहलाने का अधिकारी नहीं। चन्द्रिका का पिता उससे वेश्यावृत्ति कराकर खर्च चलाता है और शराब पीता है।

'मानपत्र'¹⁹ की नायिका पुरुष के छल छद्म की शिकार है। यह कहानी पुरुष के यौन भुभुक्षा की प्रवृत्ति को उजागर करती है। प्रेम कुमार मणि की डायरी शैली में लिखी कहानी '1984'²⁰ में घर की बहू घरेलू हिंसा का शिकार है।

'उनकी भूख'²¹ से साठ साल का भिखमंगा में भी पाशविक कामुकता का परिचय देता हुआ एक अपाहिज अनाथ लड़की को घर दबोचता है।

परिश्रम और दीनता के बीच अपना यौवन छिपाकर जीने वाली मजदूरियों की समस्या समूचे भारत में है। कृष्णा अग्निहोत्री की अनेक कहानियों (टपरेबाला) में निम्नवर्गीय स्त्रियों की इस समस्या को उठाया गया है। 'इस वर्ग की स्त्रियों की आर्थिक दीनता, सुरक्षा और जीवन की अनिवार्य वस्तुओं के अभाव की समस्या को हिन्दी कहानियों में जो व्यापक अभिव्यक्ति मिली है उससे यही पुष्ट होता है कि कहानीकारों ने पूरे सामर्थ्य के साथ इस वर्ग की स्त्रियों का निकट से अनुभव किया है।'²²

'मनुष्य चिन्ह'²³ की गोविंदी बेकसूर होते हुए भी व्यवस्था के ठेकेदारों के हाथों तहकीकात, न्याय और सहानुभूति के नाम पर उनकी वासना का शिकार बनती है।

पति अरंजन की प्रताड़ना और हिंसा का 'सिलसिला'²⁴ यूँ ही चलता रहता अगर रूपकी ने थाने की शरण न ली होती। सब्जी में जरा नमक तेज हो गया तो उसकी पिटाई, कपड़ों की स्त्री ठीक से नहीं तो पिटाई। मोजे को सही जगह नहीं रखा गया है पिटाई...अपनी हीनता की ग्रंथियों को छुपाने के लिए अत्याचार का एक न खत्म होने वाला सिलसिला।

वैधव्य हिन्दू समाज का सबसे बड़ा अभिशाप है जिसे हमारे समाज की महिलाओं को मृत्युपर्यन्त रोते कलपते ढोना पड़ता है। 'तपर्ण'²⁵ की दोनों विधवा नारियों की नियती ऐसी ही है। बाल विवाह का खामियाजा 'गोपलीबुबु'²⁶ को जीवन भर भुगतना पड़ता है। क्योंकि बचपन में उसे एक कम अक्ल पागल के साथ बांध दिया गया। संजय सहाय की 'गांठ' कहानी भारतीय समाज में विधवा स्त्री का मनोविश्लेषण करता हुआ सामाजिक यथार्थ को बिल्कुल नंगा कर देती है।

यह विडम्बना है कि शोषण के कई मामलों में एक नारी ही दूसरी नारी के शोषण में सहायक बनती है। पारिवारिक स्तर पर इसमें सास और ननद की भूमिका अहम होती है। इस सन्दर्भ में 'अतीत का टुकड़ा'²⁷ की आशा अपनी सौतेली सास की कुनीतियों का शिकार होकर दुःख तो झेलती ही है अन्ततः जरह देकर मार भी दी जाती है। दीपक शर्मा के कहानी संग्रह 'हिसाभाष'²⁸ की अधिकतर कहानियों के केन्द्र में नारी है। अभिजात्य

की मार किस प्रकार नारी को नारकी जीवन बिताने पर मजबूर करती है इसे 'दूध छुड़ाई' कहानी से समझा जा सकता है। इसी संग्रह की 'चमड़े का अहाता' में शिशु कन्या हत्या को दर्शाया गया है। तो वही 'सुयोग' की नायिका पुरुष अह का शिकार बनती है।

दाम्पत्य सम्बन्धों के मददेनजर 'गोधृति'²⁹ में सदियों से पुरुष समाज में न्याय के लिए छटपटाती संस्कारबद्ध भारतीय नारी की विवशता, किंकर्तव्यविमूढ़ता और तकलीफदेह अनिर्णय का कारुणिक चित्रण करती है। दाम्पत्य जीवन जी रही भारतीय स्त्री की त्रासदी, असहायावस्था, अर्न्वदना और समझौते करने की बेबसी को एक गहरे सरोकार के साथ प्रस्तुत करने में लेखिका सफल रही है। 'सोमल' के माध्यम से लेखिका ने पुरुष वर्ग की दोहरी नैतिकता और चारित्रिक दोगलेपन पर गहरी चोट की है।

वास्तव में भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारी शोषण के मामले में देखा जाय तो नारी मन-मस्तिष्क में पुरुषवादी मूल्यों का वह अनुकूलन है जो उनके शोषण को परम्परा, मर्यादा, शील, कुलसम्मान व पतिव्रत जैसे पवित्र मूल्यों के आवरण में प्रस्तुत करता है। बहरहाल समकालीन कहानी की ये नारियाँ शोषित होते हुए भी अपने आप में विशिष्ट हैं; क्योंकि इन्होंने कहीं भी हार नहीं मानी है। शोषण के समानान्तर ही इनका संघर्ष भी चलता है। इस लिहाज से मैत्रेयी पुष्पा की कहानी संग्रह 'गोमा हंसती है' की कहानियाँ देखी जा सकती हैं। यद्यपि ये कहानियाँ नारी दासता और मुक्ति की चाह की कथा एक साथ कहती हैं। लेखिका अपनी इन कहानियों के माध्यम से पुरुष सत्तात्मक समाज के उन तमाम मर्दवादी, छद्म को पारम्परिक समाज के ही बीच से रचनात्मक चुनौती देती हैं। वास्तव में मैत्रेयी पुष्पा की ये कथा नारियाँ तिल-तिल कर जलती, मरती, रोती सुबकती भावुकता में सनी दम तोड़ती नायिकाएँ न होकर हाड़-मांस, मज्जा की ऐसी मूर्तें हैं जो पारम्परिक समाज की गिरत में होते हुए भी अपना अलग मुकाम तलाशती हैं चाहे वह 'रास' की 'जैमन्त्री' हो, 'राय प्रवीण' की 'सावित्री' हो या फिर 'गोमा हंसती है' की 'गोमा' हो। वास्तव में आधुनिक नारियों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता है। शोषित और पीड़ित इन कहानी पात्राओं की ये विशेषता है कि ये नियतिवादी न होकर जुझारू हैं। वक्त, हालात और किस्मत की कठपुतलियाँ न बनी रहकर उनसे मुकाबिल हैं। संघर्ष करने की उनमें प्रबलचेतना है। डा० रामप्रसाद का कहना है कि 'इस तरह की कहानियों की विशेषता यह है कि इसमें स्त्री को शोषण तथा संघर्ष दोनों ही समानांतर चलता है।'³⁰

तुलसी साहित्य में मानवीय मूल्य-मैत्री

डॉ० नन्दिनी पाण्डेय

23/3, कबीर नगर, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

मानवीय शब्द 'मानव' में विशेषण प्रत्यय 'ईच' जोड़कर बना है, जिसका अर्थ है— मानव से सम्बन्धित। मानव जीवन की विकास की स्वस्थ एवं समुचित दिशा देने तथा उसकी बाह्य एवं आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव समाज ने मानव के लिए जिन जीवनादर्शों एवं कसौटियों को स्वीकार किया है, उसे ही मानवीय मूल्य कहते हैं। मानवीय मूल्य ऐसे प्रतिमान हैं, जिसके आधार पर मनुष्य आचार-विचार को सन्तुलित एवं व्यवस्थित करता है। मनुष्य को विवेकशील एवं मर्यादित बनाने में मानवीय मूल्य सहायक होते हैं।

मानवीय मूल्य, मानवता के सम्पोषक होते हैं। वस्तुतः मूल्यों के अनुपालन द्वारा ही समाज आगे बढ़ता है। मानवीय मूल्यों में 'स्व' की अपेक्षा 'पर' पर अधिक बल रहता है। इस क्षेत्र में 'पर' हित ही 'स्व' हित बन जाता है। सर्वहित ही मानव का परम अभीष्ट हो जाता है। जब हम कहते हैं कि जीवन अपनी अर्थवत्ता रखता है, तब हमारा आशय होता है कि जीवन कुछ मानवीय मूल्यों से युक्त है और जब हम यह कहते हैं कि जीवन अर्थहीन है, तब हमारा तात्पर्य होता है कि जीवन मूल्यों का ह्रास हो गया है। मानवीय मूल्य मानवीय संवेदना पर आधारित होते हैं, जो व्यक्ति को न केवल सामाजिक संदर्भों से जोड़ते हैं, अपितु समाज के प्रति उसके दायित्वों का भी बोध कराते हैं एवं मानव को जीने की उत्तम विधि का श्रेष्ठ कला से परिचित कराते हैं। मानव के स्वस्थ एवं सम्यक विकास के लिए ही मानवीय मूल्यों की कल्पना की गयी है। मानवीय मूल्य मानवीय आदर्शों के पुंज हैं।

समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता के भाव को मैत्री कहा जाता है। मैत्री सदैव परहित के भाव से प्रेरित होकर की जाती है। तुलसीदास ने श्रीरामचरित मानस में मित्रता को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। गोस्वामी जी की मान्यता है कि समस्त भेद-भाव और छलकपट त्याग कर मैत्री की स्थापना होनी चाहिए तथा मित्रता में जाति-पाति का भेद नहीं होना चाहिए। उनकी इस मान्यता का उदाहरण मानस में स्पष्ट देखने को मिलता है। अयोध्या से लंका तक प्रभु राम तीन मित्र बनाते हैं। प्रथम निषादराज, दूसरे सुग्रीव, और तीसरे विभीषण। एक छोटी जाति का था, दूसरा वानर जाति का और तीसरा ब्राह्मण जाति का। प्रभु श्रीराम की मित्रता के लिए ऊँची जाति की नहीं, मनुष्य की भी नहीं केवल प्राणी होने की आवश्यकता है।

तुलसी साहित्य में मानवीय मूल्य-मैत्री

53

निषादराज से प्रभु श्रीराम की भेंट वन जाते समय होती है। प्रभु राम का साक्षात् दर्शन करके गुह के हृदय में हर्ष का पार नहीं था। प्रभु श्रीराम भी अत्यन्त प्रेम से उसे समीप बैठकर कुशल पूछते हैं। प्रभु श्रीराम निषाद को सखा का सम्बोधन करते हैं और स्वाभाविक स्नेह के साथ उससे बात करते हैं। निषादराज स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मैं कुबुद्धि और कुजाति हूँ पर प्रभु श्रीराम द्वारा अपनाये जाने के कारण मैं विश्व का भूषण हो गया। जाति-पाति के भेदभाव का यह उचित समाधान है। आज के परिवेश में यह उदाहरण अनुकरणीय है।

कपटी कायर कुमति कुजाति। लोक वेद बाहेर सब भाँति ॥

राम कीन्ह आपन जबही ते। भयउँ भुवन भूषण तबही ते ॥

निषादराज प्रभु श्रीराम के प्रति अपनी मित्रता को निष्ठापूर्वक निभाते हैं। यहाँ तक कि प्रभु श्रीराम पर आक्रमण की आशंका मात्र से वह क्रोधित होकर भरत से युद्ध के लिए भी तैयार होते हैं, परन्तु भ्रम दूर होने पर भरत के प्रति मित्रता और आदर का भाव प्रदर्शित करते हैं।

श्रीराम का मित्र होने के कारण निषादराज को सभी से आदर तथा सम्मान प्राप्त होता है। भरतजी श्रीराम को मनाने चित्रकूट जाते हैं तो मार्ग में निषादराज से उनकी भेंट हो जाती है। निषादराज भरत तथा मुनिराज वशिष्ठ को देखकर अपना नाम बता कर दूर से ही दण्डवत् प्रणाम करते हैं। वशिष्ठजी उसको राम का मित्र जानकर प्रसन्न हृदय से आशीर्वाद देते हैं। भरतजी जब यह जानते हैं कि यह श्रीराम का मित्र है तो रथ त्यागकर प्रेम में विह्वल होकर उससे भेंटने चल पड़ते हैं। निषादराज अपना नाम व जाति सुनकर पृथ्वी पर माथा टेककर प्रणाम करता है, पर भरतजी उसे उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। भरतजी निषादराज से इस प्रकार भेंटते हैं मानो स्वयं लक्ष्मण जी से भेंट हो गयी है। निषादराज के प्रति भरत का यह भाव स्पष्ट करता है कि सच्ची मित्रता के लिए मनुष्य की जाति एवं धर्म कोई महत्व नहीं रखता। श्रीरामचरितमानस की ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

“देख दूरि तैं कहित निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामु ॥

जानि रामप्रिय दीन्ह असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥

रामु सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उगमत अनुरागा ॥

गाउ, जाति, गुंहा नाउं सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥

करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाई।

मनहुं लखन सन भेंट भइ, प्रेमु न हृदय समाइ ॥

रावण द्वारा माता जानकी का हरण कर लेने पर उनको खोजते हुए श्रीराम व लक्ष्मण किष्किन्धा पर्वत पहुँचते हैं। जहाँ पर हनुमान जी की प्रेरणा से वानरराज सुग्रीव से उनकी मित्रता होती है। प्रभु श्रीराम सुग्रीव को गले लगाकर मिलते हैं। सुग्रीव के मन

मैं यह शंका है कि प्रभु मुझसे मैत्री कैसे करेंगे? पर हनुमान जी अग्नि को साक्षी देकर परस्पर दृढ़ करके दोनों में मैत्री करवा देते हैं। प्रभु राम व सुग्रीव हृदय से मित्रता करते हैं। कोई अन्तर नहीं रखते। सुग्रीव जाति का वानर है यह जानते हुए भी श्रीराम उससे मित्रता करते हैं। उनके हृदय यह भाव तनिक भी नहीं है कि वानर के साथ मित्रता कैसे सम्भव है। भगवान् सुग्रीव से मित्रता करते हैं और बालि को मारकर उसके कष्टों का निवारण भी करते हैं। तुलसीदास ने प्रभु के माध्यम से मैत्री के उन गुणों का वर्णन किया है जो सार्वभौम हैं। वे कहते हैं कि जो लोग मित्र के दुःख से दुखी नहीं होते, उन्हें देखने से पाप लगता है। अपना दुःख पर्वत के समान भी हो तो उसे धूल के समान समझना चाहिए और मित्र के धूल के समान दुःख को भी भारी पर्वत के समान समझना चाहिए। जिनका स्वभाव इस प्रकार का नहीं होता है उन्हें मित्रता करने का कोई अधिकार नहीं है। मित्र का यह धर्म बनता है कि वह मित्र को गलत मार्ग पर जाने से रोके और सही मार्ग पर चलने की सलाह दे। उसके गुण प्रकट करके अवगुणों को छिपा दे। अपने बल के अनुसार मित्र का सदैव हित करे। संकट के समय अपार स्नेह करे। मित्र के इन लक्षणों का उल्लेख वेद में भी मिलता है। यही नहीं कुटिल मित्र से समाज को सावधान करते हुए प्रभु राम कहते हैं कि ऐसे कपटी मित्र जो सामने तो मीठे वचन कहता है एवं पीछे बुराई करता है तथा मन में कुटिलता रखता है ऐसे कुमित्र को त्याग देने में ही हित है। दुष्ट सेवक, कञ्चूस राजा, बुरी रूचि एवं कपटी मित्र शूल के समान होते हैं, जो सदैव ही पीड़ा देने वाले होते हैं। इसलिए ऐसे लोगों से दूर ही रहना चाहिए। श्रीरामचरित मानस की ये पंक्तियाँ मैत्री के सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

“जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥

निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मित्ताई॥

कुपथ निवारि सुपथ चलावा। गुन प्रगटै अनगुनन्हि दुरावा॥

देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥

विपत्ति काल पर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

आगे कह मृदु वचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई॥

जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई॥

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल समचारी॥

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब विधि घटब काज मै तोरे॥

प्रभु श्रीराम ने मित्रता के इस सूत्र का बहुत ही दृढ़ता से निर्वाह किया है। धन वैभव प्राप्त करते ही सुग्रीव राम काज भूल जाते हैं। मित्रता के आदर्श से च्युत हो रहे सुग्रीव के प्रति क्रोधित होते हैं एवं लक्ष्मण को किष्किन्धा पुरी में भेजकर मित्रता के आदर्श से विचलित सुग्रीव को सही मार्ग पर लाते हैं। इस प्रकार श्रीराम मित्र के कर्तव्य

का निर्वाह करते हैं। वे अपनी पत्नी के खोज के पहले मित्र के शत्रु का वधन करके उसके संकटों से मुक्ति दिलाते हैं। राम केवल कथनी ही नहीं वरन् अपनी करनी द्वारा भी मित्रता के आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं। आज के युग में सच्चे मित्र का मिलना दुर्लभ है। प्रभु श्रीराम के तीसरे मित्र विभीषण हैं। विभीषण रावण द्वारा अपमानित व तिरस्कृत होकर प्रभु श्रीराम की शरण में आते हैं। शरणागत की दयनीय स्थिति देखकर प्रभु उसे लंकेश सम्बोधित करके उसके भय और अशंका को दूर करते हैं। इतना ही नहीं उसे अपना मित्र भी घोषित करते हैं। शत्रु के भाई को इतनी सरलता से मित्र बनाना यह केवल सुहृदय प्रभु श्रीराम के लिए ही सम्भव है। विभीषण स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि वे अत्यन्त नीच स्वभाव का राक्षस है। मैंने कभी शत्रु आचरण नहीं किया, जिन प्रभु श्रीराम का रूप मुनि अपने ध्यान में भी नहीं ला पाते हैं, उन प्रभु श्रीराम ने स्वयं हर्षित होकर मुझे हृदय से लगा लिया। श्रीराम चरितमानस में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

“मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरणु कीन्ह नहिं काऊ॥

जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मेहि लावा॥”

प्रभु श्रीराम ने रावण की मृत्यु से पूर्व विभीषण को लंका का राज्य देने का आवश्वासन पूरा ही नहीं किया वरन् एक मित्र की भांति युद्ध में सदैव उससे सलाह भी लेते रहे। अपने मित्रों की रक्षा के लिए राम अपने प्राण की परवाह भी नहीं करते। विभीषण पर रावण द्वारा चलायी गयी शक्ति को राम अपने ऊपर झेल कर मित्रता के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। यथा—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारहि भंजन पन मोरा॥

तुरत विभीषण पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सोई सेला॥

रावण से युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद प्रभु श्री राम अयोध्या लौट कर आते हैं, तो साथ में लंकापति विभीषण, वानरराज सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जाम्बवंत, हनुमान सभी आते हैं। इस सभी का गुरु वसिष्ठ से परिचय कराते हुए प्रभु श्री राम कहते हैं कि ये सभी मेरे मित्र हैं। ये संग्राम रूपी समुद्र में मेरे लिए बड़े जहाज बेड़े के समान हुए। मेरे हित हेतु इन्होंने अपने अजन्म समर्पित रहे। इतना ही नहीं प्रभु श्री राम आगे कहते हैं कि ये सभी मुझे भरत से भी अधिक प्रिय हैं। ये सभी प्रभु के मित्र होने के कारण समस्त अयोध्या वासियों के लिए प्रिय हो जाते हैं। यथा—

“ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भयेसमर सागर कहैं बेरे॥

मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

मित्रता के गुणों को किस प्रकार प्रगट करना चाहिए इसकी शिक्षा प्रभु श्री राम से मिलती है। वे समस्त वानरों एवं भालुओं की बार-बार सराहना करते हैं कि इन्हीं के कारण मुझे रावण से युद्ध में सफलता प्राप्त हुई। प्रभु श्री राम कहते हैं कि तुम सब ने मेरे लिए सभी प्रकार के सुख वैभव का त्याग कर दिया एवं मित्रता के कर्तव्यों का निर्वाह

किया। मेरे लिए छोटे भाई, राज्य, सम्पत्ति, जानकी, अपना शरीर, घर, कुटुम्ब एवं मित्र सभी प्रिय हैं। पर तुमसे बढ़कर कोई नहीं है। प्रभु श्रीराम ने यह स्पष्ट कर दिया कि मित्र से बढ़कर सारे संसार में कुछ भी नहीं है। यथा—

“ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे।।

अनुज राज सम्पत्ति बैदेहि। देह गेह परिवार सनेही।।

सब मम प्रिय नहि तुम्हहि समाना। मृषा न कहऊँ मोर यह बाना।।

सबके प्रिय सेवक यह नीति। मोरे अधिक दास पर प्रीति।।”

प्रभु श्री राम का यह उद्घोष आज भी समीचीन है कि वही व्यक्ति सज्जन व संत है जिसमें सरलता के साथ-साथ सबके प्रति मैत्री का भाव हो। व्यक्ति के हृदय में अध्यात्म को जन्म देने वाले प्रमुख गुणों — मनोभावों की शीतलता, व्यवहार की सरलता, अध्यात्म के उच्चतर स्वर पहुँचे द्विज (ब्राह्मण/सद्गुरु) के चरणों में प्रीति के साथ ही प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव को भी धर्म या अध्यात्म के उद्गम अथवा प्रथम सोपान (प्रवेशिका) के रूप में उद्घोषित किया गया है, यथा—

“शीतलता, सरलता, मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म ज्ञनयत्री।।

अतः स्पष्ट है श्री रामचरित मानस में मैत्री का अद्भुत स्वरूप प्रस्तुत है। सेवक को रखा के स्तर पर लाकर व्यवहार करना प्रभु श्री राम की मौलिक व्यावहारिकता थी। प्रभु श्री राम ने एक ओर आदर्श मित्र की भूमिका निभायी तो दूसरी ओर निषादराज सुग्रीव व विभीषण ने भी सहजता से मित्र की मर्यादा का पालन किया। मित्रता में लेन-देन के व्यवहार का अभाव, मित्र के सुख, दुःख में सहयोग एवं मैत्री में ऊँच-नीच के विचार का अभाव आदि सभी माप दण्डों पर श्री रामचरित मानस के प्रमुख पात्रों द्वारा निभायी गयी मैत्री पूर्ण रूपरेखा खरी उतरती है जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी अनुकरणीय है।

सन्दर्भ — सूची

1. डॉ० अज्ञेय— हिन्दी साहित्य का आधुनिक परिदृश्य, पृ० 11
2. राबर्ट एस० हार्ट— वैल्यु थियरी इन फिलासफी एण्ड सोशल साइन्स, पृ० 38-39
3. गिरिजा कुमार माथर— लहर 1960 सितम्बर, पृ० 43
4. अयो. का./195/1
5. अयो. का./192/3/4/दो. 193
6. कि. का./6/1, 2, 3, 4, 5
7. सु. का./45/3
8. ल. का./93/1
9. अ. का./7/9, 4
10. उ. का./15/3, 4
11. उ. का./37/3

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एवं राष्ट्रीयता का उद्भव

सुश्री पूनम

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, आर्य महिला पी०जी० कालेज, वाराणसी

भारतीय जनमानस में आदिकाल से ही राजनीतिक उदासीनता तथा शासकों के लिए उपासना की प्रवृत्ति रही है और यही प्रवृत्ति ब्रिटिश सरकार के लिए भी लम्बे समय तक बनी रही। यह भारतीयों की स्वभावगत सरलता, सहिष्णुता, कृतज्ञता भाव ही था। जिसने ब्रिटिश साम्राज्य को लम्बे समय तक भारत में सम्मानित स्थान पर प्रतिष्ठित रहने दिया। कालांतर में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की सरलता, राजनीतिक दांवपेचों की अनभिज्ञता, उदासीनता का लाभ उठाते हुये अपने व्यापक राजनैतिक, आर्थिक हितों को साधना प्रारम्भ किया। हालाँकि इससे पूर्व के विदेशी आक्रांताओं ने भी भारत में शासन के दौरान अपने हितों की पूर्ति की परन्तु उनके शासन में प्रशासन के आधारभूत दर्शन जनकल्याण का तत्त्व सदा बना रहा, जो विभिन्न शासकों के काल में कहीं व्यापक तो कहीं आंशिक रूप से देखने को मिलता है। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने प्रारम्भ से ही जन-कल्याण के दर्शन को नकारा। यद्यपि, इनके द्वारा कुछ ऐसे प्रयास अवश्य किये जिनसे भारतीय समाज की कुछ कुप्रथायें दूर हुई परन्तु यह प्रयास जनकल्याण की अपेक्षा उनके व्यक्तिगत हितों की पूर्ति से ही अधिक प्रेरित थे। इस उपेक्षा के दंश से भारतीय समाज का कोई भी वर्ग, क्षेत्र अप्रभावित नहीं रहा। यद्यपि ब्रिटिश सरकार की नीतियों, कार्यों के विरोध में छिट-पुट विद्रोहों की सूचना मिलने लगी थी परन्तु फिर भी ऊपरी तौर पर परिस्थितियां सामान्य एवं नियंत्रण में थी परन्तु यह तूफान आने के पहले की शांति थी। ब्रिटिश सरकार की दीर्घकालीन उपेक्षा, कुटिल राजनैतिक नीतियों ने साधारण जनमानस से लेकर भारत के पुरातन नेतृत्व कर्त्ताओं तक को उद्वेलित एवं सशक्तित करना प्रारंभ कर दिया था। भारतीय समाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सैन्य इत्यादि सभी क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप का शिकार बने। अतः वर्षों के संचित उद्गार का विस्फोट हुआ 1857 के विद्रोह के रूप में।

1857 के विद्रोह व इसके पश्चात् की परिस्थितियां भारत में राष्ट्रवाद के विकास का निर्णायक मोड़ सिद्ध हुई। इस विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार की जड़ों को हिलाकर रख दिया। हालाँकि यह विद्रोह बर्बरतापूर्वक दबा दिया गया, परन्तु इसके परिणामों को गहराई से देखें तो यह अपने तात्कालिक संकुचित, बिखरे उद्देश्यों की पूर्ति में तो विफल रहा परन्तु भविष्य के लिए कहीं अधिक व्यापक महत्वपूर्ण घटनाओं की पृष्ठभूमि तैयार कर गया। विद्रोह में जहाँ पुरातन नेतृत्व ने साम्राज्य के समक्ष समर्पण किया वहीं ब्रिटिश

साम्राज्य की कुछ कथित आधुनिक प्रवृत्तियों से भारत में सुधार की आस लगाये शिक्षित मध्यम वर्ग को भी विद्रोह में तटस्थता का कोई सकारात्मक परिणाम नहीं मिला। इसकी पुष्टि विद्रोह पश्चात् ब्रिटिश सरकार की नीतियों से स्पष्ट होती हैं। जैसे 1858 व 1861 के अपर्याप्त प्रावधानों वाले विभेदकारी अधिनियम। 1858 के अधिनियम ने भारतीयों को दिखावे के तौर पर ब्रिटिश कम्पनी के अनुत्तरदायी शासन की समाप्ति कर भारत राज्य सचिव के हाथों में भारत का शासन सौंपा परंतु ब्रिटिश सरकार की भारतीयों को बहलाने का यह प्रयास असफल रहा। राज्य सचिव व उसकी परिषद् इंग्लैण्ड में रहकर ही कार्य करती थी तथा स्वयं इंग्लैण्ड के राजनयिक, संसदीय कार्यवाहियों में उलझी रहती थी जिससे भारतीय प्रशासन भी उपेक्षा का शिकार हो रहा था। इसके अतिरिक्त शिक्षित भारतीयों का मध्यम वर्ग जो ब्रिटिश सरकार की आँखों में खटकने लगा था को प्रशासन में भागीदारी से वंचित रखने के लिये सिविल सेवा की परीक्षाओं, नियुक्तियों, पदोन्नति संबंधी कड़े नियम बनाये। स्वाभाविक तौर पर यह कदम शिक्षित मध्यम वर्ग के लिए बड़ा झटका था। सबसे बड़ा मजाक तो भारतीयों के साथ तब किया गया जब सेक्रेटरी ऑफ स्टेट को कानून के दायरे में लाने का प्रावधान भी जोड़ा गया जो की तात्कालीन परिस्थितियों में संभव ही नहीं था। इस प्रकार शिक्षित मध्यम वर्ग के ब्रिटिश संविधान पर विश्वास को झटका लगा और यहीं से राष्ट्रवादी गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलना शुरू हुआ जिसमें 1861 के अधिनियम ने उत्प्रेरक की भूमिका अदा की। 1861 का अधिनियम लाकर एक बार फिर भारतीयों को बहलाने का प्रयास किया गया यद्यपि इसका एक सुखद पहलू अवश्य रहा कि विधायिका तथा कार्यपालिका की शुरुआत हुई परंतु सबसे विडम्बना यह रही कि भारतीयों को कार्यपालिका में विधिक तौर पर विधायिका में कोई स्थान न मिलना। हालांकि साम्राज्य के कुछ चाटुकारों को स्थान अवश्य दिया गया। जिनका भारतीय समाज की समस्याओं, आकांक्षाओं से कोई सरोकार नहीं था। इसके साथ ही वीटो प्राप्त वायसराय को अध्यादेश का अधिकार देकर उसे और शक्तिशाली बना दिया गया। इन दोनों अधिनियमों ने भारतीयों को झटका तो दिया ही साथ ही उनके सपनों को भी तोड़ा। यही से भारतीय शिक्षित मध्यम वर्ग में राष्ट्रवाद की धारणा ने और जोर पकड़ा और संगठित राष्ट्रवाद की शुरुआत हुई। इस प्रकार 1857 के पश्चात पैदा हुआ राजनैतिक निर्वात दूर हुआ जब शिक्षित मध्यम वर्ग का संगठित रूप से राजनैतिक मंच पर आगमन हुआ। जिसने राष्ट्रवाद की धारा को गतिमान कर आधुनिक भारत के जन्म में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्रिटिश साम्राज्य के समक्ष 1860 से 1880 के दौरान दोहरी चुनौती उत्पन्न हुई जब भारत में संगठित राष्ट्रवाद के अंतर्गत विभिन्न संस्थाओं के गठन की शुरुआत हुई जैसे दादा भाई नौरोजी द्वारा 1866 में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन व 1876 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी द्वारा इंडियन एसोसिएशन की स्थापना। इन संस्थाओं ने भारत व इंग्लैण्ड में भारत की स्थिति को उजागर करना प्रारम्भ किया साथ ही भारत में इसी प्रकार की विभिन्न

संस्थाओं की स्थापना के लिए उत्प्रेरक भी बनी। इन संस्थाओं के प्रयासों से भारतीय जनमानस बड़े पैमाने पर वास्तविकता से परिचित होने लगा। राष्ट्र की इस दशा व दिशा पर विचार करने लगा तो वहीं दूसरी ओर विश्व में नये-नये औद्योगिक राष्ट्रों का जन्म हो रहा था। जैसे इटली और जर्मनी। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य को आन्तरिक और बाह्य दोनों स्तर पर चुनौती मिल रही थी। इन्हीं परिस्थितियों में लॉर्ड लिटन व रिपन जैसे वायसरायों के आगमन ने राष्ट्रवाद को और गति दी। लिटन ने जहाँ अपने प्रतिक्रियावादी कार्यों से राष्ट्रवाद के बीजों में उर्वरक डालने का कार्य किया। जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवाद का बीज एक पौधा बन गया। वहीं उदारवादी रिपन ने अपने सकारात्मक कार्यों द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद को गति दे दी। लिटन द्वारा पारित वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम, शस्त्र अधिनियम, दिल्ली दरबार तथा आई०सी०एस० के मुद्दों ने भारतीय जनता को उत्तेजित तथा उन्मादित कर दिया। जिसमें सिविल सेवा का मुद्दा सबसे घातक सिद्ध हुआ क्योंकि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस मुद्दे की व्यापकता और महत्व को ध्यान में रखते हुये अखिल भारतीय आन्दोलन चलाया और इस मुद्दे को लेकर पूरे भारत का भ्रमण किया। उपरोक्त अधिनियमों, नीतियों ने भारतीयों को इस तथ्य से अवगत करा दिया कि इतने वर्षों तक वे जिस सरकार के प्रति आस्थावान, कृतज्ञ रहे उनकी नजरों में भारतीय आज भी अविश्वसनीय ही हैं। यह भारतीयों के आत्मसम्मान पर प्रत्यक्ष प्रहार था। ऐसे में साम्राज्य ने प्रबुद्धता का परिचय देते हुये लिटन को सेवामुक्त किया और उदारवादी रिपन की नियुक्ति की। रिपन जैसे उदारवादी वायसराय ने भारतीयों की उत्तेजना, मांगों तथा राष्ट्रवाद की बहती बयार को समझते हुये उनके घावों पर मरहम लगाने का प्रयास किया। इसके अंतर्गत रिपन ने भारतीयों की प्रशासन में भागीदारी की मांग को स्थानीय स्वशासन देकर पूरा करने का प्रयास किया साथ ही लिटन के प्रतिक्रियावादी अधिनियम वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को समाप्त कर दिया। भारतीय समाज के बड़े वर्ग कृषकों, मजदूरों को संतुष्ट करने के लिए नमक कर में कमी की और सबसे बड़ा कदम इल्बर्ट बिल को प्रस्तुत करके उठाया जो भारतीय राष्ट्रवाद की अन्तरात्मा सिद्ध हुआ क्योंकि यह भारतीयों एवं यूरोपियों के बीच समानता के अधिकार से जुड़ा था।

भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपिय अभियुक्तों के संबंध में कोई अधिकार नहीं था ऐसे में श्री बिहारी लाल गुप्ता को पदोन्नति तो दी गयी फिर भी पद से जुड़े अधिकारों से वंचित रखने के मुद्दे ने भारतीयों के आत्मसम्मान, गौरव योग्यता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया। इसी मुद्दे को लेकर इल्बर्ट बिल प्रस्तुत किया गया जिसमें यूरोपीय तथा भारतीय न्यायाधीशों के अधिकारों में समानता की बात कही गई। परंतु इस बिल के प्रस्तुत होते ही ब्रिटेन ही नहीं अपितु पूरा यूरोपिय समाज भी इसके विरोध में एकजुट हो गया। इनके अनुसार भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की समाप्ति उन्हें स्वीकार है परंतु 'काले लोग' उनके लिए निर्णय ले यह स्वीकार नहीं। यद्यपि भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीयों के प्रति अविश्वास, योग्यता को लेकर संदेह तथा स्वयं की प्रजातीय श्रेष्ठता जैसे विचारों

से परिचित थे परंतु इस सीमा तक भारतीयों को घृणित समझा जाता है यह उन्हें इल्बर्ट बिल के मुद्दे पर यूरोपीय राष्ट्रों की एकजुटता से ही पता चला। इस बिल ने ब्रिटिश सरकार में भारतीयों के बचे-खुचे विश्वास, कृतज्ञता, आशाओं को भी समाप्त कर दिया। भारतीयों के समक्ष अब एक संगठित समाज व संगठन की महत्ता उजागर होने लगी। जिसका सीधा परिणाम रहा पूर्व स्थापित संस्थाओं जैसे इंडियन एसोएशन का दुबारा सक्रिय होना, जब सुरेंद्र नाथ बनर्जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय सम्मेलनों की शुरुआत हुई जिसमें हिंदू-मुस्लिम एकता के लिये कार्य किये। इन प्रयासों के द्वारा भारत में भी यूरोपीय समाज के समान सभी वर्गों, गुटों को एकजुट करने का प्रयास किया गया व इन प्रयासों के सुचारु रूप से संचालन के लिए 1883 में राष्ट्रीय फंड का गठन किया गया एवं अन्ततः इन प्रयासों का ही संगठित परिणाम प्राप्त हुआ जब 1885 में अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ साकार रूप लिया।

संदर्भ-सूची

- 1- आधुनिक भारत का इतिहास : (बी०एल० ग्रोवर).
- 2- भारत का स्वतंत्रता संघर्ष : (विपिन चंद्रा).

श्री अरविन्द का सर्वांगीण योग

डॉ० सन्ध्या

अंशकालिक प्रवक्ता, दर्शन शास्त्र विभाग, महाराजा बलवन्त सिंह पी०जी० कॉलेज,
गंगापुर, वाराणसी

भारतीय जीवन दर्शन एवं संस्कृति के साथ योग का एक अविच्छेद्य सम्पर्क सदा से रहा है। आत्मोन्नति के साधन के रूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में स्वीकार किया गया है। वेद, स्मृति तथा पुराणों में योग का वर्णन यथेष्ट मात्रा में मिलता है यहाँ तक कि बौद्ध धर्म के पालि त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग प्रक्रिया का विशद वर्णन मिलता है। महावीर तो स्वयं योगी थे, और जैन धर्म में योग पर विशिष्ट विवेचन उपलब्ध है। योग को चित्त शुद्धि के प्रकृष्ट साधन के रूप में सर्वत्र स्वीकार किया गया है, जो मुमुक्षु है, अर्थात् जो आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है, उसके लिए योग साधना ही एकमात्र पथ है।

योग शब्द संस्कृत के युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़ना, मिलाना या एक करना है। योग के विभिन्न पारिभाषिक अर्थों की ओर न जाकर यदि हम केवल शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो योग भगवान के साथ भक्त का, आत्मा के साथ परमात्मा का या जीव के साथ शिव का मिलन या संयोग है। संक्षेप में, योग जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने का एक व्यावहारिक मार्ग है। मुक्ति, अपवर्ग या आत्म ज्ञान योगशास्त्र का परम ध्येय है।

श्री अरविन्द स्वयं एक योगी थे और उनका दर्शन निश्चित रूप से अपने साधन लब्ध अनुभवों का ही परिणाम है। भारतीय परम्परा के अनुरूप उन्होंने केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन नहीं किया वरन् एक विशेष साधन मार्ग का सविशेष उल्लेख किया जो उनके अपने अनुभव सिद्ध लक्ष्य तक पहुँचाने में सबसे अधिक उपयुक्त है। प्रत्येक भारतीय दर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक साधन पक्ष का एक अविच्छेद्य सम्पर्क रहता है। इस साधन पक्ष को ही सामान्यतया हम योग कहते हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में श्री अरविन्द का दर्शन एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाता है। किसी दार्शनिक मतवाद के सैद्धान्तिक लक्ष्य के अनुरूप यदि व्यावहारिक साधन पक्ष का निर्माण होना आवश्यक समझा जाय तो श्री अरविन्द के दर्शन का सैद्धान्तिक लक्ष्य परम्परागत सभी दर्शनों से भिन्न है। अतः श्री अरविन्द दर्शन के साधना पक्ष या योग मार्ग का पूर्णतया विलक्षण होना अनिवार्य है। सैद्धान्तिक विभेदों के होते हुए भी सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का मूल ध्येय तथा लक्ष्य प्रायः एक सा ही रहा है। भावात्मक दृष्टि से वह लक्ष्य है। व्यक्तिगत मुक्ति, कैवल्य या निर्वाण और निषेधात्मक दृष्टि से आत्यन्तिक दुःख निवारण या जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा। व्यक्तिगत मुक्ति

या निर्वाण मूलरूप से मरणोपरान्त समझा गया, यद्यपि प्रारब्ध के कारण जीवमुक्ति का उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। परन्तु भारतीय दार्शनिक परम्परा के इस ध्येय के बिल्कुल विपरीत श्री अरविन्द सर्वमुक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वे इस मृत्युलोक में अमृतत्व का आश्वासन दिलाते हैं। इसी पार्थिव जीवन में ही दिव्य जीवन की निश्चित सम्भावना का उल्लेख करते हैं। उनका यह सिद्धान्त विकासवाद पर आधारित है। विकास प्रक्रिया अतिमानस चेतना के अवतरण के साथ त्वरान्वित करने के लिए मानवीय प्रयास भी श्री अरविन्द के दर्शन में योग साधना का क्रम है। सैद्धान्तिक ध्येय की नवीनता के अनुरूप श्री अरविन्द का योग मार्ग भी नवीन है। इसी नवीन योग मार्ग को श्री अरविन्द सर्वांगीण योग कहते हैं।

सभी प्राचीन परम्पराओं के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखने का एक निरन्तर प्रयास श्री अरविन्द में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि उनका योग मार्ग पूर्णतया नवीन है क्योंकि उस योग का ध्येय भी नवीन है फिर भी श्री अरविन्द कहते हैं कि हमारा योग कोई नवीन योग नहीं है। यह तो प्राचीन भारतीय योगों, विशेष कर भगवद्गीता के कर्मयोग से सम्बन्धित है। हमारा योग प्राचीन मार्गों को स्वीकार करते हुए, यह एक आध्यात्मिक अभियान है।

सर्वांगीण योग के उद्देश्य को बताते हुए श्री अरविन्द कहते हैं कि इसका उद्देश्य केवल सामान्य है। वैश्विक अज्ञान चेतना से दिव्य चेतना में उत्थान नहीं, बल्कि उस दिव्य चेतना की अतिमानसिक शक्ति को मन, प्राण तथा शरीर के अज्ञान में अवतरित करना, जिससे वे यहाँ पर दिव्यता को अभिव्यक्त कर सकें और जड़ में दिव्य जीवन की सृष्टि सम्भव हो सके। इसका ध्येय व्यक्तिगत मुक्ति नहीं वरन् यह तो सम्पूर्ण मानव जाति को अज्ञान, अन्धकार तथा मृत्यु से ज्ञान, प्रकाश तथा अमृतत्व की ओर ले जाने का एक महान मार्ग है। एकमात्र सर्वांगीण योग ही विकास द्वारा समग्र मानव जाति को उस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा सकता है।

हमारी सत्ता के दो छोर हैं—एक है जड़ और दूसरा है आत्मा। दोनों के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित करना ही श्री अरविन्द के योग-मार्ग का एकमात्र लक्ष्य है। श्री अरविन्द का सर्वांगीण योग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गों में एक सामंजस्यपूर्ण समन्वय प्रस्तुत करता है। इसका लक्ष्य न इस सांसारिक जीवन से छुटकारा पाकर ब्रह्म में विलीन होना है और न इस भौतिक जीवन के अनित्य सुख के स्रोत में अपने को बद्ध कर देना है। इसी पृथ्वी पर ही रोग, शोक, जरा और मृत्यु से मुक्त अमृतमय दिव्य जीवन को विकसित करने का यह ध्येय रखता है।

इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द की उक्ति बहुत ही स्पष्ट है “वास्तविक मुक्ति पार्थिव जीवन का बहिष्कार नहीं अथवा यह आध्यात्मिक आत्मविनाश से व्यक्ति का पलायन ही है। जिस प्रकार वास्तविक त्याग केवल परिवार और समाज का भौतिक परिहार नहीं बल्कि यह तो ईश्वर के साथ-साथ आन्तरिक तादात्म्य है।”

श्री अरविन्द ने अपने योग को भगवद्गीता में वर्णित कर्मयोग पर आधारित कहा। योग युक्त होकर कर्म करने का उपदेश आज से कई हजार वर्ष पूर्व श्री कृष्ण ने दिया था। परन्तु उनका वह उपदेश बुद्ध के शून्यवाद और शंकर के मायावाद की बाढ़ से आच्छादित हो गया। श्री अरविन्द अपने सर्वांगीण योग में श्री कृष्ण के द्वारा दिये गये उपदेशों को पुनः संजीवित करने का दावा करते हैं। जीवन से भागना नहीं बल्कि जीवन को कुरुक्षेत्र बनाकर निरन्तर युद्ध करना ही श्री अरविन्द की योग साधना का मूलमन्त्र है। “मामनुस्मर युद्धय च” श्री कृष्ण की इसी वाणी को रूपायित करने का प्रयास उन्होंने किया।

श्री अरविन्द के सर्वांगीण योग की सिद्धि साधक की बौद्धिक योग्यता पर निर्भर नहीं करती। जिस प्रकार सत्य को जानने के लिए बौद्धिक योग्यता की अपेक्षा सत्य का सानिध्य और साक्षात्कार अधिक महत्व रखता है, उसी प्रकार योग की परिपूर्ति के लिए आत्म त्याग और आत्म समर्पण के द्वारा वास्तविक साधना अधिक फलदायी है जिससे मन, प्राण तथा शरीर का पूर्णरूपान्तरण सम्भव हो सके।

यह पूर्णांग योग आत्म समर्पण पर सर्वाधिक बल देता है। श्री अरविन्द कहते हैं कि भगवान के उस महान उद्देश्य के साथ अपने को युक्त करना ही योग-साधना का पहला सोपान है।

श्री अरविन्द का पूर्णांग योग सर्वांगीण है। यह विभिन्न योग मार्गों को समन्वित करता है। इसलिए उन्होंने योग विषयक मुख्य ग्रन्थ का नाम “सिन्धेसिस ऑफ योग या योग समन्वय” रखा है।

श्री अरविन्द के पूर्णांग योग में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का समुचित समन्वय होता है। साधक की आवश्यकताओं के अनुसार हठयोग अथवा राजयोग का सीमित उपयोग इसमें सम्भव है। योग साधना के सभी पृथक्-पृथक् मार्ग श्री अरविन्द के एक सूत्र योग में समन्वित हो जाने पर उनके एकांगी स्वरूप स्वतः नष्ट हो जाते हैं और ये सभी एक दूसरे को अपने में समाविष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार सामान्य मनुष्य में उस परमयोगी का विकास होता है। जिसके रोम-रोम में अतिमानस का समावेश रहता है।

हठ योग का ध्येय है शरीर और प्राण शक्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेना जिनसे उनके द्वारा ईश्वरीय स्पर्श प्राप्त हो सके। उद्देश्य की पूर्ति के लिए हठयोगी अत्यन्त कष्टकर साधना करता है। सर्वांगीण योग में यद्यपि हठयोग सम्मिलित है, फिर भी पूर्णयोगी को हठयोगी के समान कष्टकर साधना में उतरना नहीं पड़ता। यँ देखा जाय तो हठयोग का उद्देश्य सबसे कठिन है क्योंकि इस भौतिक शरीर को जरा, व्याधि तथा मृत्यु से मुक्त कर दिव्य स्पर्श के लिए उपयुक्त बनाना तथा दिव्य चैतन्य को उतार कर उसमें निवास कराना कोई आसान काम नहीं है। मन या बुद्धि को दिव्य बनाना इससे कहीं सरल है। परन्तु पूर्ण योगी के लिए यह कठिनतम साधन अत्यन्त सुगम हो जाता है। वह केवल अभिप्सा को शरीर तथा प्राण से संयुक्त कर देता है।

राजयोग चित्तवृत्तियों के निरोध से मन को शान्त, एकाग्र तथा स्थिर बनाने का प्रयत्न करता है। इसके लिए अष्टांग योग की साधना में वह प्रवृत्त होता है। वह यम, नियम आदि के पालन से नैतिक जीवन का गठन सर्वप्रथम करता है। सर्वांगीण योग में राजयोग का मूल उद्देश्य सम्मिलित है। मानसिक शान्ति, चित्त की एकाग्रता तथा वासनाओं से मुक्ति सर्वांगीण योग की आधार भूमि है। ध्यान पूर्ण योग का मुख्य साधन है परन्तु पूर्णयोग चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं करता, न नैतिकता पर अत्यधिक महत्व देता है। वासनाओं को दमित करने से वे दमित नहीं होती इसलिए पूर्ण योगी साधना से एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है जिसमें चित्त की स्थिरता, शान्ति तथा एकाग्रता उसके स्वभाव का एक अंग बन जाता है। नैतिकता पर भी सर्वांग योग आवश्यकता से अधिक बल नहीं देता है क्योंकि इससे यह भय रहता है कि साधक बाद में चलकर नैतिक उत्कर्ष को आध्यात्मिक प्रगति समझने लगता है। वास्तव में नैतिकता पर आध्यात्मिकता निर्भर नहीं करती।

कर्मयोग पर श्री अरविन्द सबसे अधिक बल देते हैं। कर्मयोग की व्याख्या उन्होंने गीता में उल्लिखित—फलाकांक्षा रहित, निष्काम तथा विशुद्ध ईश्वरार्पण वृत्ति से किये गये कर्म के आधार पर की है। वे कहते हैं : “योग का वास्तविक उद्देश्य परोपकार नहीं बल्कि दिव्यता को प्राप्त करना है, दिव्य चेतना में प्रविष्ट होना और दिव्य में अपनी वास्तविक सत्ता को (जो अहं नहीं है) ढूँढ निकालना है”। एक दूसरे प्रसंग में उन्होंने कहा “राजनीति जो है, उसका आध्यात्मिक जीवन से कोई सम्पर्क नहीं है। यदि कोई आध्यात्मिक व्यक्ति अपने देश के लिए कुछ करता है तो किसी साधारण मानवीय प्रेरणा से नहीं बल्कि ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए और ईश्वर नियुक्त कर्म का एक अंश मानकर” यथार्थ योगी समस्त संसार को ईश्वर की लीला—भूमि समझता है और संसार के कण—कण में ईश्वर की अभिव्यक्ति देखता है। वह कर्मत्याग नहीं करता न संसार से भागता है। वह अपने को भगवान के हाथ का यंत्र समझ कर सभी कर्म ईश्वरार्थ करता है। अहंकार और वासनाओं को दूर कर, फलाशक्ति से रहित होकर, अहंभाव से वंचित होकर यथा नियोक्तोऽस्मि तथा करोमि, इस भाव से ईश्वरीय कर्म, ईश्वर के लिए, ईश्वर के यंत्र के समान वह करता है।

सर्वांगीण योग में भक्ति योग का भी अतिसुन्दर समावेश है। पूर्ण योगी परम भक्त होगा परन्तु किसी विशेष ईश्वरीय रूप में श्रद्धा करता हुआ दूसरों के प्रति द्वेष नहीं रखेगा। योगी के लिए भक्त होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि भक्ति में ही वह शक्ति है जिससे भगवान भक्त के समीप खिंचे आते हैं। पूर्णयोगी सदैव ईश्वर को अपने लक्ष्य कमल में अनुभव करता रहता है। क्षण भर के लिए भी वह ईश्वर से अपने को वियुक्त नहीं रख सकता। ईश्वर ही उसका सर्वस्व है। ईश्वर के लिए वह जीता है, ईश्वर के लिए व सब कुछ करता है। वह न मुक्ति चाहता है और न सिद्धियाँ ही। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वांगीण योग भक्ति योग से ओत—प्रेत है।

पूर्णांग योग ज्ञान योग को भी अपने में समाविष्ट करता है। पूर्ण योग में ज्ञान

की साधना होगी लेकिन इस साधना के साथ प्रकृति, सृष्टि तथा समाज की उपेक्षा नहीं होगी। अज्ञान की इस सृष्टि में अतिमानसिक चेतना को अभिव्यक्त करना सर्वांगीण योग का मुख्य ध्येय है। इसलिए अज्ञान के अन्धकार में पड़े चैत्यपुरुष की ज्वाला को अविद्या के आवरण से मुक्त करना परम आवश्यक है। अतः ज्ञान साधना भी अनिवार्य है। जैसे—जैसे कामना और वासना की ग्रन्थियाँ टूटती जायेंगी वैसे—वैसे अन्तरात्मा का विकास होता रहेगा। देह, प्राण, मन से युक्त अहं भावना को दूर कर उच्चतर मनस्, प्रदीप्त मनस्, स्थानुभूति तथा अतिमानस के भिन्न—भिन्न स्तरों से होता हुआ पूर्णयोगी अतिमानस के द्वारा पर पहुँचता है। ज्ञान की इस साधना में वह देह, प्राण, मन आदि किसी भी अंग का अन्नमय, प्राणमय अथवा मनोमय पुरुष की परिशुद्धि होती रहती है क्योंकि अहंकार के नष्ट होने से मैं शरीर हूँ, या मैं प्राण हूँ, ऐसी बुद्धि समाप्त हो जाती है। अन्त में जब चैत्य भगवत्—कृपा से जब अतिमानस का अवतरण होता है तब साधक अपने में वास्तविक अन्नमय, वास्तविक प्राणमय और वास्तविक मनोमय पुरुष का आविष्कार करता है। वस्तुतः श्री अरविन्द का ज्ञान साधना प्रचलित अद्वैत ज्ञान साधना से पूर्णतया भिन्न है। सर्वांग योग में ज्ञान का अर्थ है “परम सत्ता को जीवन के प्रत्येक अंग में स्थापित करना” जो व्यक्तिगत दिव्यात्मा के रूप में पहले से मनुष्य के हृदय के अन्दर विराज कर रहे है। प्रचलित ज्ञान योग में साधक आन्तरिक साधना की ओर न जाकर नेति—नेति प्रक्रिया से शरीर, प्राण, मन, सृष्टि तथा प्रकृति का परिहार करता हुआ आत्मा को असीम, सर्वव्यापी, शान्त, निर्विकार तथा अचल रूप में अनुभव करता है। तब यह प्रतीत होता है कि वही एकमात्र सत्ता है और बाकी सब कुछ असत्य, शून्य या मिथ्या है। श्री अरविन्द कहते हैं कि परम सत्ता की पूर्णांग अनुभूत के (अर्थात् क्षर,—अक्षर दोनों रूपों में) बहुत पहले ही उन्हें सत्ता को शान्त एवं अक्षर रूप में एक परम शून्य के रूप में अनुभव हो चुका था। श्री अरविन्द का कहना है कि विश्व सृष्टि में निहित इस परम उद्देश्य के सम्बन्ध में जो जागरूक हो जाता है, वही वास्तव में इस पूर्ण योग का सच्चा अधिकारी है।

उपरोक्त योग मार्गों के अतिरिक्त श्री अरविन्द अपने पूर्ण योग में तन्त्रोक्त साधना पद्धति को भी समाविष्ट करते हैं। ऐसा कहना गलत नहीं होगा ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि योगमार्गों को वे वैदिक कहते हैं और इन वैदिक पद्धतियों से पूर्णतया भिन्न तन्त्र योग है। वैदिक एवं तान्त्रिक पद्धतियों में मुख्य भेद यह है कि जहाँ वैदिक पद्धतियाँ चैतन्यमय पुरुष को प्रमुख तथा एकक स्थान देती हैं, वहाँ तन्त्र मत प्रकृति को आद्य शक्ति के रूप में प्रमुख समझता है फिर, वैदिक योग शास्त्रों में शक्ति को माया या अविद्या के रूप में स्वीकार किया जाता है और पुरुष को उस अविद्या से मुक्त करना मुख्य रहता है। इसके ध्येय विपरीत तन्त्र मत के अनुसार शक्ति में विद्या और अविद्या, दोनों सम्मिलित हैं। अविद्या शक्ति से संसार की वह सृष्टि, स्थिति तथा संहार करती है, लीला करती है और विद्या शक्ति के रूप में वह संसार—बन्धन से मुक्त भी करती है। श्री अरविन्द का दर्शन वस्तुतः वैदिक तथा तन्त्रमतों का एक समन्वय है। यद्यपि कहा जा सकता है कि

उनके दर्शन में चेतन पुरुष या सच्चिदानन्द ही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रमुख तत्व है फिर भी पुरुष की चेतना स्वयं शक्ति रूपिणी है। सच्चिदानन्द वास्तव में शिव-शक्ति का एकीभूत स्वरूप है। तन्त्र को मूल आधार के रूप में स्वीकार करता है। तन्त्र योग की मूल भूमिका में वे अपने नवीन योग का बीज देखते हैं। यह आधार या बीज है। तन्त्र योग का समन्वयकारी दृष्टिकोण। इसी दृष्टिकोण में छिपा हुआ है सृष्टि का परम रहस्य और मनुष्य की परमागति। तन्त्रयोग की आन्तरिक साधन-प्रणाली, कुण्डलिनी शक्ति तथा षट् चक्र भेद आदि एक नवीन रूप में सर्वांगीण योग में समाविष्ट है। इस तन्त्र योग के साथ वैदिक योगविधियों के समन्वय से श्री अरविन्द ने जिस एक सूत्र एवं समन्वयकारी योग मार्ग का प्रतिपादन किया, वही श्री अरविन्द की सबसे बड़ी देन है।

श्री अरविन्द का सर्वांगीण योग जिस प्रकार किसी भी योग मार्ग की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार किसी भी धर्मविश्वास की अवहेलना नहीं करता। यह तो एक नवीन युग का सन्देश है, एक ज्योतिर्मय भविष्य की सूचना है, एक नवीन सृष्टि की परिकल्पना है, एक अभिनव दृष्टिकोण है।

श्री अरविन्द इस बात को स्वीकार करते हैं कि ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म में से किसी भी एक मार्ग पर योगयुक्त अन्तःकरण से चलने पर अन्त में अन्य दो का भी लाभ हो जाता है। परन्तु प्रारम्भ से ही तीनों का एक ही साथ अवलम्बन करना यद्यपि कठिन और दुष्कर है, फिर भी पूर्ण योग के लिए अधिक उपयुक्त है। इस प्रसंग में तीन पटरियों पर चलने वाली तीन पहियों की गाड़ी से वे इसकी तुलना करते हैं। यूँ देखा जाय तो 'सर्वांगीण योग' की कोई न कोई निर्धारित विधि है, न आगे बढ़ने का कोई निश्चित मार्ग है और न कोई घिसा पीटा अनुशासन के नियम ही है।" यह स्वतः स्फूर्त आत्मप्रस्फुटन का परिणाम है। साधक कहीं से भी आरम्भ कर आन्तरिक दिव्य प्रेरणा से संचालित होता है। अपनी चेष्टा के कोई इस पथ पर चल नहीं सकता। ईश्वरीय अनुमति तथा अपने अन्दर तीव्र अभिप्सा का होना इसके लिए अनिवार्य है। जिनके अन्दर दिव्य जीवन की अभीप्सा जाग्रत हुई है, उन्हें पूर्णतया अपने को आद्यशक्ति माँ के हाथों में समर्पित करना पड़ेगा। माँ स्वयं साधक को क्रमशः सभी प्रकार के दोष, तुष्टि तथा कमजोरी से मुक्त कर निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचायेगी

इस प्रकार के अधिकारी बहुत ही थोड़े होते हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "प्रत्येक मनुष्य कोई न कोई योग कर सकता है, लेकिन सर्वांगीण योग की बात भिन्न है। इसका लक्ष्य अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को, यहाँ तक कि देह को भी रूपान्तरित करना है। यह कार्य बहुत कठिन है। हिमालय के उस उच्चतम शिखर पर चढ़ना सबका काम नहीं है, इसलिए मैं तब तक योग साधना के लिए किसी से नहीं कहता जब तक उसकी प्यास इतनी प्रबल न हो कि उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व होम करने को तैयार न हो जाय। अर्थात् मैं उसी को योग शिक्षा दे सकता हूँ जिसे इस योग के सिवाय कुछ भी करणीय नहीं मालूम हो।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि श्री अरविन्द का अतिमानसिक सिद्धि का यह स्वर्णसूत्र है जिसके द्वारा जड़ और आत्मा, मृत्यु एवं अमृतत्व, नर और नारायण का संयोग सम्भव है। इस योग का लक्ष्य जन्म मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाकर ब्रह्म में विलीन होना नहीं, न पार्थिवच जीवन के भौतिक सुख के स्रोत में अपने को प्रवाहित ही कर देना है—बल्कि इसी विश्व में रक्त माँस के इस शरीर को लेकर रोग-शोक, जरा-मृत्यु से मुक्त अमृतमय दिव्य-जीवन को विकसित करना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्री अरविन्द लेटर्स
2. श्री अरविन्द, लाइट्स ऑन योग
3. श्री अरविन्द, दि सिन्थेसिस ऑफ योग
4. डॉ० के०ना० वर्मा-श्री अरविन्द ऑफ योग
5. केशव देवा आचार्य-श्री अरविन्द दर्शन प्रवेशिका, प्रथम संस्करण
6. विजयकान्त राय चौधरी-श्री अरविन्द का योग, प्रथम संस्करण
7. विवेकानन्द स्वामी-ज्ञान योग-प्रथम संस्करण
8. श्री अरविन्द-दिव्य जीवन, भाग-एक, दो-प्रथम संस्करण
9. अभय चन्द भट्टाचार्य-श्री अरविन्द दर्शन
10. डॉ० त्रिलोक चन्द-पातञ्जलयोग और श्री अरविन्द योग तुलनात्मक अध्ययन
11. एस०के० मैत्रा-श्री अरविन्द दर्शन

गुरु साक्षात् परब्रह्म

डॉ० ममता गुप्ता

असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, आर्य महिला पी० जी० कॉलेज, चेतगंज,
वाराणसी।

गुरु की महिमा कहते हुए भगवान शंकर 'गुरुगीता' में पार्वती जी से कहते हैं कि हे शिवे! गुरुदेव की पा से हृदय की ग्रन्थि छिन्न हो जाती है, सब संशय दूर हो जाते हैं और सर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं।¹

पृथ्वी के मानव समाज में जिस प्रकार विद्याशिक्षा की प्रणाली है, उसी प्रकार हिन्दू समाज में स्वतन्त्र धर्मशिक्षा की प्रणाली है। विद्या अध्ययन के लिए जिस प्रकार प्रथम अक्षर-ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्मशिक्षा के लिए भी पहले धर्मज्ञान के वर्ण-परिचय का होना आवश्यक है। यह वर्ण-परिचय देव-देवियों के पूजन में व्रतानुष्ठान तथा प्रवृत्ति पद के अनेक क्रिया-कलाप द्वारा आरम्भ किया जाता है। इसे प्रारम्भ कराने के लिए हिन्दू समाज में धर्म शिक्षार्थ स्वतन्त्र गुरु निर्दिष्ट किये हुए हैं क्योंकि गुरु के बिना अनुष्ठानिक धर्म में एक पग भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। जिस प्रकार विद्याध्ययन के लिए शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है, उसी प्रकार धर्म-शिक्षार्थ प्रथमतः कुलगुरु से धर्मानुष्ठान और पूजा-पद्धति का आरम्भ करना चाहिए। जो जिस मार्ग पर चलता है, वह उसी पथ की चर्चा करते-करते ऐसा सुअवसर प्राप्त कर लेता है, जब स्वयमेव उसे गुरु मिल जाते हैं। 'गुरु' शब्द का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि 'गु' शब्द का अर्थ अंधकार (अज्ञान) और 'रु' शब्द का अर्थ प्रकाश (ज्ञान) है। अतः अज्ञान को नष्ट करने वाला जो ब्रह्मरूप प्रकाश है, वह गुरु है। दूसरे शब्दों में अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने के कारण ही यह 'गुरु' कहलाते हैं। 'गुरु' शब्द का दूसरा विश्लेषण है कि 'गु' अक्षर गुणातीत अर्थ का बोधक है और 'रु' अक्षर रूपरहित स्थिति का बोधक है। ये दोनों (गुणातीत और रूपातीत) स्थितियाँ जो देते हैं उनको गुरु कहते हैं। यदि गुरुतत्त्व से पराङ्मुख हो जाय तो याज्ञिक मुक्ति नहीं पा सकते, योगी मुक्त नहीं हो सकते और तपस्वी भी मुक्त नहीं हो सकते। गुरु की सेवा से विमुख गंधर्व, पितृ, यज्ञ, चारण, ऋषि, सिद्ध और देवता आदि भी मुक्त नहीं होग। श्री गुरुदेव के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से मन की शुद्धि करनी चाहिए। जो कुछ भी अनित्य वस्तु अपनी इन्द्रियों की विषय हो जायें। उनका खण्डन (निराकरण) करना चाहिए। गुरु वे हैं जो नित्य, निराकरण, परब्रह्म का बोध देते हुए, जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जलाया करता है, वैसे शिष्य में ब्रह्मभाव प्रकट करते हैं।²

मोक्ष का द्वार : गुरु - गुरु प्रसाद से जिनका अन्तर शुद्ध हो चुका है, बाह्य शुद्धि उनके समक्ष दासी बन जाती है। मन में यदि गुरु की सेवा हो और गुरुप्रसाद का मूल्य समझ

में आ चुका हो उस साधक अथवा शिष्य को अन्य किसी शुद्धि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह जो भी करेगा वह शुद्ध हो जायेगा। जो गुरु भक्त है, गुरु की पवित्र सेवा से जिसका तन और मन यज्ञरूप बन गया है उसे कोई दोष नहीं लगता। उसके लिए सभी क्षम्य है। जिसके मन पर गुरुत्व ने अधिकार जमा लिया है वह स्वयं ही चलता-फिरता एक तीर्थधाम बन जाता है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ, एकलव्य, तोटकाचार्य जैसे सत्पात्र शिष्य-सत्शिष्यों को याद करने से, उनके नाम का स्मरण करने से उनकी कथाओं का पुनरावर्तन करने से आज भी हजारों लोग पवित्र हो जाते हैं।

शिष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि गुरु सेवा में अपना सर्वस्व लुटा दे। गुरु का यह स्वभाव ही होता है कि वह संप्राप्त आध्यात्मिक पूंजी का अपना सम्पूर्ण कोष शिष्य को दिग्दर्शित करा दे। इतना होने पर भी गुरु की पूंजी में कोई अभाव नहीं आ पाता है। जो सत्शिष्य बन सका है उसके लिए परमात्मा के प्रेम प्रवाह का झरना फुट निकलता है। गुरुभक्त के सामीप्य मात्र से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों दरवाजे खुल जाते हैं। सत्शिष्य का सान्निध्य इतना लाभ पहुँचा सकता है और जब यह सत्शिष्य सद्गुरु बनता है तब उसमें अनंत फल देने की सामर्थ्य उद्भूत हो जाती है। ज्ञानेश्वर महाराज सत्शिष्य में से सद्गुरु हुए थे।

इंग्लैण्ड लोहे और कोयले के लिए प्रसिद्ध है, अमेरिका डॉलर के लिए प्रसिद्ध है, इटली शिल्पकला के लिए प्रसिद्ध है और भारत आध्यात्मिक गुरुओं और संतों के लिए प्रसिद्ध है।

भारत में सत्शिष्य परिपक्व होते हैं और सत्शिष्य ही सद्गुरु बन सकते हैं। सद्गुरु ही सदुपदेश का दान कर सकते हैं। उपदेश बेचा नहीं जा सकता, उसका दान हो सकता है। इस कारण हम सद्गुरुओं के ऋणी रहते हैं, सद्गुरु का कर्जदार रहना विश्व का सर्वाधिक धनवान बनने से भी बड़े भाग्य की बात है।

गुरु के समान कोई नहीं

संसार में माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों की तरह गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी एक सम्बन्ध ही है, परन्तु दूसरे सारे सम्बन्ध जीव के बन्धन बढ़ाने वाले हैं जबकि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध सब बन्धनों से मुक्त करता है। इसलिये संसार में यदि कोई सार्थक सम्बन्ध है तो वह है गुरु-शिष्य का सम्बन्ध। यही एकमात्र ऐसा सम्बन्ध है जो दूसरे सब बन्धनों से मुक्ति दिलाकर अन्त में स्वयं भी हट जाता है। जीव को स्वयं शिव-स्वरूप का अनुभव कराकर मुक्त कर देता है। ऐसी मुक्तावस्था के विषय में कहा गया है—

“इस अवस्था में पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, लोक लोक नहीं रहते, देव देव नहीं रहते, वेद वेद नहीं रहते। इस स्थिति में चोर चोर नहीं रहता, भ्रूण हत्यारा (गर्भस्थ शिशु का हत्यारा) नहीं रहता,..... तपस्वी तपस्वी नहीं रहता। इस

स्थिति में उसे, न तो पुण्य लगता है न ही पाप लगता है, क्योंकि वह सब शोकों से पार चला जाता है।¹³

गुरु के सान्निध्य से शिष्य के चित्त में मौलिक परिवर्तन होने लगता है। गुरु के चित्त में अपार शक्ति होती है क्योंकि उनका चित्त सूक्ष्मता और व्यापकता के पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ होता है, जबकि शिष्य का चित्त अभी भौतिकता के पाश में फँसा हुआ होता है। शिष्य अभी अपने भीतर जिस ईश्वरत्व को नहीं देख सकता, उस ईश्वरत्व को गुरु की पारदर्शी दृष्टि देख लेती है। शिष्य को उसके ईश्वरत्व के जगने में गुरु सहायता करते हैं, संप्रेषण शक्ति की वर्षा करके शिष्य के रोम-रोम को पुलकित कर देते हैं। विश्व में यदि कोई महान् से भी महान् कार्य है तो वह है जीव को जगाकर उसे उसके शिवत्व में स्थापित करने का, प्रति की पराधीनता से छुड़ाकर उसको मुक्त बनाने का। ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष के सान्निध्य में यह कार्य स्वाभाविक रूप से हो जाया करता है।

साधारण गुरुओं से श्रेष्ठ एक और श्रेणी के गुरु होते हैं वे हैं पृथ्वी पर ईश्वर का, ब्रह्म का साकार अवतार। वे केवल स्पर्श से प्रसाद के आदन-प्रदान से, कथन से, दृष्टिपात से, यहाँ तक कि संकल्प मात्र से घोर नास्तिक को भी आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं। वे गुरुओं के भी गुरु हैं। वे मनुष्य की देह में विराजित, मनुष्य के माध्यम से ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। वास्तव में वे ही परमात्मा हैं, जिनकी कल्याणकारी, मोक्षप्रद उपासना किये बिना हम रह नहीं सकते। उनसे प्रेम करने के लिए हम परवश हो जाते हैं। गुरु में भगवद्बुद्धि की आवश्यकता

भगवान् में तो श्रद्धा हो जाती है परन्तु गुरु में श्रद्धा होनी बहुत कठिन है। लाखों मनुष्यों में कोई एक ही होगा, जो गुरु में कुछ भी दोष न देखेगा। जब तक गुरु में श्रद्धा नहीं होगी तब तक कुछ नहीं होगा।

गुरु में जब तक भगवद् बुद्धि नहीं की जाती, तब तक संसार-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता। गुरु में मनुष्य बुद्धि होना ही पाप है। गुरु और भगवान् में बिल्कुल भेद नहीं है यही मानना कल्याणकारी है और इसी भाव से भगवान् मिलते हैं।

गुरु और ईश्वर की कृपा प्राप्त किया हुआ भक्त भी प्रारब्धवश श्रद्धाहीन, दुर्बुद्धि या अभिमानी होने से उनकी कृपा से वंचित हो जाता है।

आजकल लोग गुरु सेवा तो करते नहीं फिर भी चाहते हैं कि हम विद्या में पारंगत जा जाए। उसका भला कैसे हो सकता? गुरु सेवा के बिना तो कुछ भी नहीं सीखा जा सकता। पहले समय में लोग इतना नहीं पढ़ते थे, जितनी गुरु सेवा करते थे। इसी से उन्हें सब प्रकार की विद्या प्राप्त हो जाती थी। आजकल के बड़े से बड़े पढ़े-लिखे भी उन गुरुभक्तों के सामने कुछ नहीं हैं। उन्हें गुरुसेवा से जो चीज मिलती थी वह इन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। गुरु के आशीर्वाद से ही उन्हें सब कुछ प्राप्त हो जाता था।

कुछ प्रमुख गुरु भक्ति को इस प्रकार देखा जा सकता है—

प्राचीन काल में एक आयोद धौम्य नाम के ऋषि थे। उनके शिष्यों में एक आरुणि नाम का शिष्य बड़ा ही नम्र, सेवाभावी और आज्ञापालक था। एक दिन अत्यधिक वर्षा हुई। गुरु ने आरुणि को आश्रम के खेतों की देखभाल के लिए भेजा। आरुणि ने खेत में जाकर देखा कि खेत का सब पानी तो सीमा तोड़कर बाहर निकला जा रहा है। जहाँ से पानी निकल रहा था। वहाँ आरुणि ने मिट्टी डालना शुरू किया। परन्तु पानी का वेग सब मिट्टी को बहा ले जा रहा था। अन्त में आरुणि स्वयं ही उस टूटी हुई सीमा में पानी रोकने के लिए लेट गया, पानी तो रुक गया परन्तु वह सारी रात ठंड में लेटे रहा। इसे देख गुरु आयोद धौम्य का हृदय भर आया और उन्होंने कहा, “बेटा! तू पढ़े बिना ही सब शास्त्रों में निपुण हो जाएगा।” इस प्रकार आरुणि में शास्त्रों का ज्ञान अपने आप प्रगट होने लगा।

संत एकनाथ देवगढ़ राज्य के दीवान श्री जनार्दन स्वामी के शिष्य थे। एक दिन गुरुदेव ने एकनाथ को राजदरबार का हिसाब करने को कहा। हजारों के हिसाब में उनसे एक पाई की भूल थी और उसको पकड़ने के लिए उन्होंने रातभर जागरण की। गुरु सेवा में इतनी लगन, इतनी तितिक्षा और भक्ति देखकर दीवान जनार्दन स्वामी के हृदय में गुरुपा जाग उठी। उसके बाद ही एकनाथ के जीवन में ज्ञान का सूर्य उदय हुआ।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपने शिक्षागुरु विश्वामित्र के पास बहुत संयम, विनय और विवेक से रहते थे। गुरु की सेवा में सदैव तत्पर रहते थे। सीता-स्वयंवर में जब सब राजा धनुष उठाने का एक-एक करके प्रयत्न कर रहे थे तब श्रीराम संयम से बैठे ही रहे। जब गुरु विश्वामित्र की आज्ञा हुई तभी वे खड़े हुए और उन्हें प्रमाण करके धनुष उठाया। इस प्रकार ऐसी विनम्र भक्ति से श्रीराम अपने गुरुदेव की संतुष्ट रखते थे।

विश्व-विख्यात स्वामी विवेकानंद अपना जीवन अपने गुरुदेव स्वामी रामकृष्ण परमहंस को समर्पित कर चुके थे। गुरु के प्रति अनन्य भक्ति और निष्ठा के प्रताप से ही वे अपने गुरु के शरीर और उनके दिव्यतम आदर्शों की उत्तम सेवा कर सके।

श्री शंकराचार्य अल्प अवस्था में ही भाष्यसमेत अन्य शास्त्रों में भी पारंगत हो गये थे। जिसके फलस्वरूप उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया था। केरल प्रदेश से चलते-चलते दो मास के बाद नर्मदा के किनारे ओमकारनाथ पहुँचे। वहाँ पता चला कि एक गुफा में कोई महायोगी सैकड़ों वर्षों से समाधिस्थ हुए बैठे थे। श्री शंकराचार्य गुफा में गए। सहस्रों वर्षों की समाधि एक सच्चे अधिकारी, जिज्ञासु बालक के आने से टूटी। सद्गुरुदेव श्री गोविन्दपादाचार्य ने बाल संयासी शंकर को शिष्य के रूप में ग्रहण किया। श्री शंकराचार्य की देह में ब्रह्मज्योति प्रस्फुट हो उठी। भारतीय संसृति के अनुपम रत्न के योगदान को आज कौन नहीं जानता?

स्वामी विरजानन्दजी की पुण्यकीर्ति सुनकर अमृत का पान करने की तीव्र जिज्ञासा स्वामी दयानन्द के अन्दर जाग उठी। कई प्रश्नों के उत्तर से संतुष्ट हो जाने के बाद स्वामी विरजानन्दजी ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उन्हीं के पा प्रसाद से

स्वामी दयानन्द ने हिन्दू जाति को आडम्बर और भ्रमजाल से निकाला तथा वेदों के ज्ञान को नये सिरे से प्रकाशित किया।

मध्यकालीन समूची शक्ति साधना, वह तांत्रिक हो या अतांत्रिक गुरुतत्त्व का बहुत आभारी है एवं गुरु संप्रदायों और पंथों के आविर्भाव का परम विधायक है। क्या बौद्ध, क्या जैन, क्या शैव और क्या वैष्णव—सभी संप्रदायों ने हृदय से गुरु का गुणगान किया है। प्रत्येक गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और अन्याय देवी—देवताओं से भी बढ़कर स्वीकार किया गया है। यदि कोई उनके गुरु को छोटा मान ले तो परलोक में जो दुर्गति होनी होगी वह तो होगी ही, इहलोक में भी उसे अपने इस अद्भुत साहस का दंड भोगना पड़ सकता है, तांत्रिक साधनाओं में तो वह सार्वभौम मार्गदर्शक और उद्धारक मान लिया गया था, गुरुदेव का यह महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दी की सगुण और निर्गुण धारा में समान रूप से बना रहा।

गुरु पद का वही व्यक्ति अधिकारी है जो सर्वांगार्थतत्त्वज्ञ, सर्वमंत्रविधानवित्, लोकसम्मोहक, प्रियदर्शन, देवोपम, सुमुख, सुलभ, स्वच्छ, भ्रमनाशक, प्राज्ञ, तर्कपटु, अन्तर्लक्षी, सूक्ष्मद्रष्टा, सर्वज्ञ, देशकालवित, बोधक, शांत, दयालु, जितेन्द्रिय, शिष्यसाधन, स्वविद्यानुष्ठानरत, गुण—दोष विभेदक और स्वार्थरहित हो।

कबीरदास जी के शिष्य धर्मदास जी ने कबीर को परम प्रियतम के रूप में याद किया है। साथ ही उन्होंने उनकी युग—युग तक जीवित रहने की कामना व्यक्त की। उन्होंने कबीर को ज्ञानी, यती, सती, प्रतापी, दाता, गंभीर, दुखहरन, ज्ञानमंडन तथा दया सिन्धु आदि कहा है।^१

सिख संप्रदाय तो 'शिष्य' शब्द का ही रूपान्तर है। इस पंथ में 'गुरु ग्रंथसाहब' किस प्रकार सर्वाधिक उच्चासनस्थ हुआ, यह सर्वविदित है।^२

संत सुन्दरदास ने, जो इस परम्परा के आचार्य माने जा सकते हैं, गुरु के बिना साधना असंभव बताया है। विद्वान् होने के कारण उन्होंने अपनी बात कुछ अधिक तर्कसंगत ढंग से कही है। उनके अनुसार बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता। यदि कोई चतुर गुरु मिल गया तो मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी उससे लाभान्वित हो सकता है।^३

पटलूदास ऐसे व्यक्ति को गुरु मानने के योग्य समझते हैं जो एक पहुँचा हुआ योगी हो, साधना के क्षेत्र में जाग्रत हो, सांसारिक आकर्षणों से अप्रभावित हो, जिसके संग्रह में त्याग हो और जो अखण्ड भजनानन्दी हो।^४ योग्य गुरु की खोज करना और उसे प्राप्त करने में सफल होना साधना के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। सामान्यतया योग्य गुरु आसानी से नहीं मिला करते। गोरखनाथ का तो कथन है कि 'गुरु की खोज में इधर—उधर भटकना व्यर्थ है। आत्मज्ञान के समान न तो कोई गुरु है और तो चित्त के समान चेला'।^५

सतगुरु के न मिलने से संत बुल्लेशाह बहुत दुःखी है। अन्दर का मैल धोने के लिए की गई उनकी सारी उपासना गुरु के बिना व्यर्थ सिद्ध हुई है।

इसी प्रकार घट—घटवासी और जगतन्त्र के संचालनकर्त्ता भगवान् को संत केशवदास भी गुरु के अभाव में नहीं देख पाए थे।

गुरु का स्थान इस काव्यधारा के कवियों की दृष्टि में कितना महत्त्वपूर्ण था। यह ऊपर की कुछ पक्तियों द्वारा स्पष्ट हो जाता है। गुरुशब्द इस धारा में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह 'सद्' शब्द से मिलकर जहाँ एक ओर गुरु का वाचक है वहीं दूसरी ओर वह ब्रह्मवाची भी हो गया है। जहाँ ब्रह्म या परमतत्त्व के लिए संत कवियों को उचित शब्द का अभाव प्रतीत हुआ उन्होंने 'सद्गुरु' शब्द से ही काम चला दिया। उनका मानव सद्गुरु भी परम सद्गुरु (ब्रह्म) से कम नहीं। कबीर के समक्ष जब 'गुरु और गोविन्द' में से पहले किसे प्रमाण करें का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने गुरु को ही प्राथमिकता दी, चरणदास भी हरि की अपेक्षा गुरु को प्रसन्न करने की आवश्यकता अधिक समझे हैं। उनकी शिक्षा है कि यदि हरि को छोड़कर भी गुरु को पाने का प्रसंग उपस्थित हो तो यह सौदा महंगा नहीं है।

गुरु के लिए संत कवियों ने विचित्र—विचित्र विशेषणों का प्रयोग किया है किसी ने धोबी^६ से उसकी उपमा दी है तो किसी ने 'सिकलीगर' (शीशे की सफाई और मरम्मत करने वाले) से।^{१०} गुरु के लिए 'तीरदाज', 'गोलन्दाज', 'पथिक', 'सूरमा' जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है।^{११} किसी ने गुरु को कुम्हार, लुहार, केवट, बढई, राजगीर आदि भी कहा है।^{१२} गुरु में मुंबक पारस, चंदन और कपूर की विशेषता बताने वाले भी उल्लेखनीय हैं।^{१३} चरणदासी जी ने गुरु को बेदरूप पंडित, कल्पवृक्ष, कामधेनु, महेश, ब्रह्मा, विष्णु, गंगा, सूर्य और सर्वसमर्थ आदि कहा है।

चरणदास का कथन है कि गुरु शिष्य को अपना कर उनका पोषण पंजा पक्षी और कच्छप की भांति करते हैं। जिस प्रकार सत्गुरु को धनुर्धारी, शूरमा, तीरंदाज, गोलंदाज, शिकारी, बधिक, निशानेबाज, अहेरी, कमनैत आदि कहा गया है उसी प्रकार उनके उपदेशों के लिए तीर, गोला, बान, तेग, सेल, तलवार आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने की यह भावना परवर्ती संत मतों में सतत बढ़ती गई है। कबीरपंथ और चरणदासी संप्रदाय ने इस क्षेत्र में विशेष प्रवृत्ति दिखाई है। गुरु के तीर सरीखे तीखे तथा गहराई से प्रभाव डालने वाले उपदेशों को सामान्य शिष्य नहीं सह सकते। शिष्य को भी जिज्ञासु होना चाहिए, तभी वह गुरु के शब्दों का अर्थ सम्यक् रूप से ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री गुरुदेव की .पा से शिष्य अपने भीतर ही आत्मानंद प्राप्त करके समता और मुक्ति के मार्ग द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त करता है। सदा गुरुदेव का ध्यान करने से ही जीव ब्रह्ममय हो जाता है। वह किसी भी स्थान में रहता हो फिर भी मुक्त ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। योगशिखापेनिषद् में कहा गया है कि

यथाथ में गुरु के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। मोक्ष की आकांक्षा करने वालों को अत्यधिक गुरु भक्ति करनी चाहिए, क्योंकि गुरुदेव के द्वारा परम मोक्ष की प्राप्ति होती है।^{१४}

सन्दर्भ-सूची

1. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते सर्वकर्माणि गुरोः करुणया शिवेः ॥ श्री गुरु गीता, 191
2. नित्यं ब्रह्म निराकारं निर्गुणं बोधयेत् परम् ।
भासयन् ब्रह्मभावं च दीपो दीपान्तरं यथा ॥ श्री गुरु गीता, 176
3. (वृहदारण्यक उपनिषद् : 4-3-22)
4. (धरमदास की शब्दावली, शब्द, 7,13)4
5. सति गुरु मिलै त दुविधा भागै ।
कमलु विसागि मनु हरि प्रभु लागै ।
संतकाव्य : 198/3, 240/4
6. सिखि लिखि पढ़ि गुनि हाथ न आवै ।
सतगुरु मिलै त लै पहुँचावै ॥
धरमदास बोधलीला (हस्तलेख ना0प्र0म0)6
7. (पलटू साहब की बानी, भाग-3, पृ0 1)7
8. ज्ञान सरीषा गुरु न मिलिया चित्त सरीषा चेला ।
मन सरीषा मेलू ने मिलिया तार्थै गोरख फिरै अकेला ॥
गोरखबानी, सा0 1818
9. धरमदास की शब्दावली, श03
10. प0सा0बा0-1 पृ0 9 तथा गरीबदास की बानी, पृ0 19
11. संत बा0 सं0 -1, पृ0 2,3
12. गरीबदास जी की बानी- पृ.013,19,94
13. गरीबदास जी की बानी- पृ.0 19
14. "यस्त देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।"

.....
"गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णुगुरुदेवः सदाऽच्युतः ।

न गुरोरधिकः कश्चित् विषुलोकेषु विद्याते । यो0उप0 2/22

वैदिक वाङ्मय एवं वाल्मीकि-रामायण में धर्म

डॉ. अमरनाथ सिंह यादव*

डॉ. श्रद्धा**

*प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय इण्टर कालेज, कांसखेत, पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखण्ड

**पूर्व शोध-छात्रा, संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

वेद धर्म का मूल है। वेद में प्रतिपादित धर्म ही परवर्ती समस्त वाङ्मय का आधार है। यह तथ्य प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। अतः सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि वेद में धर्म का क्या अर्थ और स्वरूप प्रतिपादित है।

वैदिक संहिताओं में धर्म के स्थान पर धर्मन् शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में "धर्मन्" शब्द या तो विशेषण के रूप में या संज्ञा के रूप में 56 बार प्रयुक्त हुआ है।¹ अधिकांशतः यह शब्द धार्मिक-विधियों (देवपूजा, याज्ञिक विधि-विधान) निश्चित समय या व्यवस्था (ऋत) तथा आचरण-नियम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।² यही "धर्मन्" शब्द लौकिक संस्कृत में "धर्म" कहलाया। वेद में "धर्म" देवोपासना तथा यज्ञ के रूप में दृष्टिगोचर होता है। द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय तथा पृथ्वी स्थानीय देवताओं³ की स्तुतियाँ भक्ति और श्रद्धा रूप धर्म की स्थापना करती हैं, तो दूसरी ओर अपने कल्याण के लिए देवताओं के आह्वान द्वारा यज्ञ-रूप कर्मकाण्ड का भी प्रतिपादन किया गया है। मुख्यतः वैदिक धर्म की दो विशेषताएँ हैं- प्रथम वैदिक धर्म ने इस संसार की कभी भी उपेक्षा नहीं की तथा द्वितीय सदैव अनेकत्व में एकत्व का दर्शन करता आया है। ऋग्वेद⁴ के एक मन्त्र में कहा गया है कि किसी संसार की प्रतीक्षा नहीं करनी है, हमें यही और इसी समय प्रसन्न रहना है। वैदिक ऋषियों की देव प्रार्थनाओं में दैन्य भाव नहीं है। वे संसार से पलायन कर देवताओं की शरण में नहीं जाते अपितु इसी संसार में पुरुषोचित्त कार्य करते हुए जीने की प्रेरणा इनसे प्राप्त करते हैं। वैदिक-युग के आर्य लौकिक अभ्युदय के लिए देवताओं की सत्ता, प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ़ विश्वास करते थे, देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किया करते थे। वे देवताओं से दीर्घायु, पुत्र, धन, समृद्धि आदि की प्रार्थना करते थे।⁵ वेद में देवतावाद सम्बन्धी दो रूप मिलते हैं- प्रारम्भ में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के मूर्तरूप में अनेक देवताओं से सम्बन्धित बहुदेववाद का वर्णन मिलता है। तत्पश्चात् उन सभी देवताओं में एक ही दिव्य शक्ति को स्वीकार करके एक दैववाद (एकेश्वरवाद) की स्थापना की गई है।⁶

देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ पुरुष की पूजा की, ये प्रथम धर्म थे।⁷ यहाँ धर्म शब्द यज्ञीय क्रिया-कलाप की ओर संकेत करता है। यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या में "ज्ञान युक्त - कर्म को ही धर्म कहा है।⁸ अधिकांश ऋचाओं में प्रयुक्त तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, प्रथमा धर्माः, सनता धर्माणि आदि मन्त्रांश क्रमशः धार्मिक विधियों, प्रथम - विधियों तथा प्राचीन - विधियों के अर्थ के द्योतक हैं, जो वस्तुतः यज्ञीय क्रियाकल्प ही हैं।⁹

वेद में प्रतिपादित है- परमेश्वर ने आकाश के बीच में त्रिपाद-परिमित स्थान में त्रिलोक का निर्माण करके उनके भीतर धर्मों को स्थापित किया।¹⁰ यहाँ “धर्म” से अभिप्राय जगन्निर्वाहक उन नियमों से है जिनके द्वारा इस जगत् का धारण होता है।¹¹ यह अर्थ “धर्म” के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की ओर भी संकेत करता है। “धर्म” शब्द जो प्रकृति या ईश्वर के नियमों के लिए प्रयुक्त हुआ है उसका वास्तविक शब्द “ऋत” ऋग्वेद में ही उपलब्ध होता है जो सृष्टि के अखण्ड देशकाल व्यापी नियमों के लिए प्रयुक्त हुआ है। देवपूजा तथा यज्ञकर्म की नियमितता तथा सत्यरूप नैतिक नियम का भी यह “ऋत” द्योतक बन गया, जिसका पालन तथा रक्षण मित्रावरुण करते हैं।¹²

धर्म की सामान्य स्वरूप की चर्चा में देवपूजन तथा यज्ञ के अतिरिक्त आचार एवं कर्तव्य पक्ष पर बल दिया गया है। उनमें सत्य को सर्वोपरि कहा गया है। सत्य और असत्य की प्रतियोगिता में सोम सत्य की रक्षा तथा असत्य का हनन करता है।¹³ यह सत्य हमारे अस्तित्व को नियन्त्रित करने वाला एक नियम है, जो हमारी सत्ता के विभिन्न स्तरों को बनाये रखता है।¹⁴ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोक्त धर्म के विषय में कहा गया है, जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करो। उसके अनुसार धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है- एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि एवं सत्य को जानने की इच्छा तथा तीसरा परमेश्वर की कही वेद-विद्या। सत्य को धर्म तथा असत्य को अधर्म कहा गया है। सभी मनुष्यों को प्रेरणा दी गई है कि वे परस्पर मिलकर प्रेम भाव से रहें, यही वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है। वेदरीति से ईश्वरोपासना से ही धर्म में प्रवृत्ति होती है।¹⁵

अथर्ववेद में ओज, भयरहित तेज, हर्षशोकादि त्याग रूप सहिष्णुता, ब्रह्मचर्य, सत्य व प्रिय-भाषण, इन्द्रियसंयम तथा श्री (सम्पन्नता) को ही धर्म कहा गया है।¹⁶ घाटे के अनुसार वैदिक धर्म की प्रमुख विशेषता यह है कि इसका स्वरूप व्यावहारिक तथा उपयोगी है।¹⁷

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में धर्म शब्द धारण करना, निश्चित नियम व्यवस्था, यज्ञादि धार्मिक - विधियाँ तथा आचरण, नियम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य यास्क अनुसार वैदिक ऋषियों को धर्म का साक्षात्कार हुआ था।¹⁸

वेदों के अनन्तर संहिताओं की व्याख्या करनेवाले ब्राह्मण ग्रन्थों में भी “धर्म” का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।¹⁹ ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है- यज्ञ विधि के प्रयोग सम्बन्धी नियमों का वर्णन करना तथा उपाख्यानों एवं प्रशंसात्मक कथाओं द्वारा प्रयोग के सूक्ष्म रहस्य को समझाना।²⁰ कर्मकाण्ड सम्बन्धी इन ग्रन्थों में कर्म का अर्थ यज्ञ समझा जाता था क्योंकि आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ ही था।²¹ वहाँ देवताओं के यज्ञ रूप कर्म को कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहा गया है। अमृतत्व की कामना वाला अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। अश्वमेध-याजी देवयान मार्ग को तथा प्राजापत्य-याची अपुनरावृत्ति को प्राप्त होता है।²² यज्ञ को दीर्घायु प्रदान करने वाला तथा²³ सत्य को तप कहा गया है।²⁴ धर्म को अधिपति कहा गया है।²⁵ तैत्तिरीयारण्यक में पाँच प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। वे हैं- देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ।²⁶

अग्नि में दी गई आहुति को “देवयज्ञ”, पितरों के कल्याणार्थ दिए गये पिण्डदान आदि को “पितृयज्ञ”, भूतप्राणियों के हितार्थ वैश्वदेव बलि को “भूतयज्ञ” तथा ब्राह्मणों के प्रति दिए गये अन्न को मनुष्य यज्ञ कहा गया है।²⁷ ऋक्, साम, यजु के स्वाध्याय रूप यज्ञ को “ब्रह्मयज्ञ” कहा गया है।²⁸ यहाँ शुभाशुभ कर्म के फल का प्रारम्भिक सूत्रपात भी दिखाई देता है। यह भावना कि मनुष्य अनेक कर्मों के अनुसार सुख अथवा दुःख को प्राप्त करता है; नैतिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त के रूप में प्रथम बार सामने आती है।²⁹

उपनिषदों में धर्म शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है। श्रुति को धर्म स्वरूप कहा गया है तथा “धर्म” शब्द का प्रयोग आत्मा, तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, वेद विहित कर्म तथा सत्य के अर्थ में किया गया है।³⁰ ईशावास्योपनिषद्³¹ में वर्णित है “ज्योतिर्मय पात्र से सत्य का मुख आवृत है। हे पूषन् देव! सत्य-धर्म के दर्शन के लिए उस आवरण को हटा दो”। “धर्म” शब्द आत्म विषयक ज्ञान की ओर संकेत करता है जिसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्विज्ञेय माना गया है।³² तैत्तिरीयोपनिषद् के ये वचन- “सत्यं वद, धर्मं चर”।³³ सत्य वचन के साथ “अनुष्ठेय-कर्म” के आचरण पर बल देते हैं। इस प्रकार उपरोक्त उपनिषद् वाक्य सत्य, आत्मज्ञान तथा अनुष्ठेय कर्म को “धर्म” स्वीकार करते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में “धर्म” की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। यहाँ प्रतिपादित है कि आरम्भ में एक ब्रह्म ही था। अकेले होने के कारण वह विभूति-युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तो उसने विभिन्न ब्राह्मणादि वर्णों की सृष्टि के साथ-साथ श्रेयोरूप धर्म की भी सृष्टि की।³⁴ यहाँ सत्य को ही धर्म तथा धर्म को ही सत्य कहा गया है।³⁵ सत्य शास्त्रानुकूल अर्थ का नाम है। वह शास्त्रानुकूल अर्थ ही अनुष्ठान किये जाने पर धर्म कहलाता है।³⁶ अभिप्राय यह है कि ज्ञात होने वाला शास्त्र का तात्पर्य सत्य और आचरण में आने पर वही धर्म कहलाता है। इसी उपनिषद्³⁷ की एक उदात्त स्तुति है- “असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।” इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् में भी सत्य रूप धर्म की महिमा गायी गई है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।³⁸

“तत्त्वमसि” का दार्शनिक विचार प्रत्येक व्यक्ति में एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति का द्योतक है। इसी विचारधारा के कारण दया, अहिंसा, समता आदि उत्तम गुण विकसित होते हैं। इस प्रकार यहाँ नैतिक मानवीय-धर्म एवं तत्त्व दर्शन (आध्यात्म) दोनों को परस्पर सम्बद्ध माना गया है।³⁹

छान्दोग्योपनिषद्⁴⁰ में “धर्म का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं- (1) यज्ञ, अध्ययन एवं दान, जिनका सम्बन्ध गृहस्थ धर्म से है, (2) तपस्या, जिसका सम्बन्ध वानप्रस्थ से है, (3) आचार्य महानारायणोपनिषद्⁴¹ में भी धर्म को समस्त जगत् का आधार एवं प्रतिष्ठा माना गया है। मैकडानल के अनुसार उपनिषद् वस्तुतः एक नवीन धर्म के प्रवर्तक हैं जो कर्मकाण्ड के तत्त्वतः विरुद्ध हैं। उपनिषदों का लक्ष्य ऐहिक सुख प्राप्ति तथा विधिवत् यज्ञ द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट कर परलोक में सुख प्राप्त करना नहीं, अपितु अपने भौतिक अस्तित्व के यथार्थ ज्ञान द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य की प्राप्ति है।⁴² इससे यागादि की

निरर्थकता तथा अध्यात्म-ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित है। इसीलिए वेदों में जहाँ कर्मपरक धर्म की प्रधानता है वहीं उपनिषदों में ज्ञान विषयक धर्म का बाहुल्य है।⁴³

कल्पसूत्रों के अन्तर्गत श्रौतसूत्र कर्मकाण्ड की प्रयोगविधि को प्रमुख मानते हैं, इनमें अग्न्याधेय, हविर्याग, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास तथा अन्य नैमित्तिक इष्टियों का अत्यधिक सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

गृह्यसूत्रों में दैनिक जीवन की धार्मिक विधियों को नियमबद्ध करने का प्रयास किया गया है; जिनमें जन्म से मृत्युपर्यन्त सभी संस्कार-विधियाँ अन्तर्निहित हैं। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग रीति-रिवाज, संस्कार आदि अर्थों में किया गया है।

धर्मसूत्रों में प्रतिपादित “धर्म” मानव-जीवन के व्यापक क्षेत्र का संस्पर्श करता है। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत गौतमधर्मसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, वसिष्ठ, विष्णु, हारीतधर्मसूत्र प्रमुख हैं, जिनका सम्बन्ध आर्य-जाति के आचार-नियमों से है।⁴⁴ इनमें धर्म के मूल स्रोत, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, राजधर्म, स्त्रीधर्म की विशद् विवेचना की गई है। धर्मसूत्र धर्म के लिए वेद को ही प्रमाण मानते हैं।⁴⁵ स्मृति में प्रतिपादित धर्म को द्वितीय धर्म-प्रमाण कहा गया है।⁴⁶ शिष्टजनों द्वारा आचरित धर्म तृतीय स्रोत कहा गया है।⁴⁷ जिसकी प्रामाणिकता श्रुति और स्मृति के पश्चात् मानी गई है। शिष्ट के लक्षण बताये हैं, जिन्होंने इतिहास, पुराण सहित वेद का अध्ययन तथा अर्थ का बोध धर्मानुसार प्राप्त कर लिया है, जो श्रुति को ही धर्म का प्रत्यक्ष हेतु मानते हैं वहीं शिष्ट कहलाते हैं।⁴⁸

वाल्मीकि-रामायण धर्म का आकर ग्रन्थ है। संसार में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, वही परमगति है, धर्म में ही सत्य प्रतिष्ठित है।⁴⁹ श्रीराम को सर्वत्र धर्मज्ञः⁵⁰, धर्मस्य परिरक्षिता⁵¹, धर्मनित्यः⁵², धर्मात्मा⁵³, धर्मवत्सल⁵⁴, धर्मधृतामवरः⁵⁵ कहा गया है। इतना ही नहीं “रामोविग्रहवान् धर्मः”⁵⁶ कहकर श्रीराम को धर्म का मूर्तिमान स्वरूप भी स्वीकार किया गया है। अधर्म पर धर्म की विजय दर्शाना ही इस धर्मग्रन्थ का उद्देश्य है।

जगत् को धारण करने वाला धर्म यहाँ विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। सत्य, सच्चरित्रता, कर्तव्य, आचार, देवोपासना, यज्ञ, यज्ञादि तथा नित्य धार्मिक विधियाँ ही विभिन्न धर्म रूप हैं। सत्य को अविनाशी, वेद, प्रणवरूप शब्द, ब्रह्म, ईश्वर तथा परम पद कहा गया है। सत्य में धर्म को प्रतिष्ठित तथा धर्म के आधार पर धर्म की स्थिति स्वीकार करके सत्य को सबका मूल कहा गया है।⁵⁷ सत्यवादिता, प्रतिज्ञापालन, इन्द्रियसंयम, पितृभक्ति, क्षमाशीलता आदि चारित्रिक आचार श्रीराम को धर्मज्ञ बनाते हैं। धर्माचरण रामायण के पात्रों द्वारा मुखरित हुआ है। विग्रहवान् धर्म श्रीराम, पातित्रत्यधर्मपरायणा सीता, स्वामी-भक्त हनुमान, भ्रातृ-भक्त भरत, सत्त्वगुणसम्पन्न विभीषण, परजन हितकारी धर्मात्मा जटायु आदि सभी चरित्र धर्म के आदर्श रूप को दर्शाते हैं। इसके विपरीत वेद-वेदाङ्गविद् परन्तु आचार तथा चरित्रहीन रावण अधर्म के साक्षात् रूप का प्रतिपादन करता है।

अन्य ग्रन्थों के समान रामायण में भी वेद को ही धर्म का मूल कहा गया है। वेदोक्त धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का यहाँ व्यावहारिक रूप से प्रतिपादन किया गया है।

सन्दर्भ -

1. काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 3
2. वही, पृ. 9; घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ. 102-136
3. निरुक्त, 7.2.1; द्र. - सूर्यकान्त - वैदिक देवशास्त्र, पृ. 37
4. ऋग्वेद 4.33.11
5. घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ. 103-104; एस.एन. दास गुप्त - भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1, पृ. 26-27
6. ऋग्वेद 1.60.46 - इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥; घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ. 134; मैकडानल - संस्कृति साहित्य का इतिहास वैदिक युग, पृ. 58; दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 87
7. ऋग्वेद 1.164.17; 10.90.16
8. निरुक्त, द्वादश अध्याय, पृ. 577
9. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 3; दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 83, 90
10. ऋग्वेद 1.22.18; अथर्व. 7.26.5
11. वासुदेव शरण अग्रवाल, “नमो धर्माय महते” कल्याण धर्मांक, पृ. 89
12. घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ. 121; ऋग्वेद 5.63.1 - ‘ऋतस्यगोपावधि तिष्ठतो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।’; ऋग्वेद 5.67.1 - ‘धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।’; राधाकृष्णन् - पूर्व और पश्चिम, पृ. 20।
13. ऋग्वेद 7.104.12
14. राधाकृष्णन् पूर्व और पश्चिम, पृ. 20
15. द्र. - ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 92-99
16. अथर्व. 12.5.7 - ‘ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च।’; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ. 102, 103; विद्यानन्द विदेह- ‘धर्म के लक्षण’ कल्याण, धर्मांक, पृ. 40/41
17. घाटे, ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ. 103
18. निरुक्त 1/20; द्र. - घाटे, ऋग्वेद पर व्याख्यान, पृ. 18
19. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 4
20. मैकडानल - संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग (वैदिक युग), पृ. 188
21. दिनकर - संस्कृत के चार अध्याय, पृ. 84; तै.ब्रा. 1.2.1.10 ‘समिध्यमानः प्रथमो नु धर्मः।’
22. तै.ब्रा. 3.9.22.81, 82
23. वही, 3.9.19.72 - ‘एष वै दीर्घो नाम यज्ञः। दीर्घायुषा ह वै तत्र मनुष्या भवन्ति।’
24. वही, 3.10.6.10 - ‘सत्यं तपो नाम।’
25. वही, 3.9.16.60 - ‘धर्मो वा अधिपतिः।’
26. तै.आ. 2/10
27. वही, 2/10; सायण भाष्य, पृ. 143-144
28. वही, 2/10 - यत्स्वाध्यायमधीयोतेकामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते।’
29. एस.एन. दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ. 27

30. सीताराम ओंकार नाथ - धर्म, कल्याण, धर्मांक, पृ. 21-22
31. ईश. 15
32. कङ्गोपनिषद् 1.1.21
33. तै.उ. 1.11.1
34. द्र. - बृहद्.उप. 1.4.14 शांकर भाष्य, पृ. 293
35. बृ.उ. 1.4.14
36. द्र. - बृहद्.उप. 1.4.14 शांकर भाष्य, पृ. 293
37. बृ.उ. 1.3.28 - 'असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति।'
38. मुण्डक.उ. 3.1.16
39. द्र. - काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 104
40. छान्दोग्योपनिषद् 3/17/4; 2/23
41. महानारायण उप. 22/1
42. मैकडानल - संस्कृत साहित्य का इतिहास, वैदिक युग, पृ. 202
43. दिनकर - संस्कृत के चार अध्याय, पृ. 85-91
44. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 9
45. गौ.धर्म. 1/1/1 - 'वेदो धर्ममूलम्।'; बौ.धर्म. 1/1/1/1 - 'उपदिष्टो धर्मः प्रतिवेदम्।'; आप.धर्म. - 1/3 - 'वेदाश्च।'; वशिष्ठ धर्म. 1/4/6 - 'श्रुतिस्मृति विहितो धर्मः।'
46. बौ.धर्म. 1/1/1/3 - 'स्मार्तो द्वितीयः।'
47. वही, 1/1/1/4 - 'तृतीयः शिष्टागमः।'
48. वही, 1/1/1/6
49. वा.राम. 2/21/41 - 'धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्। धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्।'
50. वही, 1/1/12
51. वही, 1/1/13
52. वही, 2/37/19
53. वही, 6/28/9
54. वही, 2/27/14
55. वही, 3/30/13
56. वही, 2/14/7 - 'सत्यमेकपदं ब्रह्मसत्येधर्मः प्रतिष्ठितः सत्यमेवाक्ष्य वेदाः सत्येना वाप्यते परम्।।'; वही, 2/109/13 - सत्यमेवाक्ष्यो लोके सत्ये धर्म सदाश्रितः। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।।'
57. वा.राम. 7/111/4 - 'रामायणं वेद समम्।'

21वीं शदी का हिन्दी बाल साहित्य

स्वरूप एवं समस्याएँ

डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय

प्रवक्ता, हिन्दी, राजकिशोर सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बरुईन, जमनियाँ, गाजीपुर

वर्तमान समय में जिस तेजी से शिक्षा का स्तर उचा हुआ है, उसीप्रकार मानव मूल्यों में बदलाव हुआ है, नैतिकता घटती जा रही है, नीति और सदाचार की बातें बेमानी हो गयी है। चारो ओर आराजकता का वातावरण है तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला है। ऐसे दूषित वातावरण में बाल साहित्य किस प्रकार का लिखा जाएं यह बहुत बड़ी चुनौती है।

वर्तमान दौर के सूचना और प्रौद्योगिकी के इस युग में आँखे खोलते ही बच्चा टेलीविजन, कम्प्यूटर, मोबाइल और इण्टरनेट से उसका सम्बन्ध हो जाता है। आज सूचनाओं का जिस गति से विस्फोट हो रहा है, उसे देखते ही कहा जा सकता है कि अउने वाले समय में बच्चे मोबाइल ही पैदा होंगे। ऐसे बच्चों के लिए साहित्य सृजन न केवल गम्भीर चुनौती होगी, बल्कि उनकी जिज्ञासाओं का समाधान करना सामान्य माता-पिता के लिए कठिन कार्य होगा।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में हम इक्कीसवीं शताब्दी के सपने बुना करते हैं। इक्कीसवीं सदी की कल्पना से मन ऐसा पुलकित होता था कि आगे बढ़ने के सारे दरवाजे अपने आप खुले नजर आते थे। ऐसी कल्पना से बच्चों का कवि भला कैसे अछूता रह सकता था। उसने भी इक्कीसवीं सदी की अद्भूत कल्पना कर डाली।

जल्दी जल्दी कदम बढ़ाने की आयी है बारी,

कर लो इक्कीसवीं सदी में जीने की तैयारी।

अब तो कक्षा में आकर रोबोट पढ़ायगा

दुनिया में क्या, कहाँ, तुरन्त सबको बतलायगा।

लम्बा चौड़ा, गुणा भाग सब झटपट कर देगा

अँगुली रखते ही भैया, सब चटपट कर देगा।।'

इस प्रकार मधुर कल्पना में हिन्दी में अनेक भाव-भूमियों को लेकर कविताएँ लिखी गयीं। बच्चों की छोटी-छोटी कविताओं में उनके मन की बातें कहना एक विशेष कला है। जो रचनाकार इस कला में जितना निपुण होगा, वह उतनी ही सुन्दर बाल कविता लिख सकता है।

समय इस बात का साक्षी है कि हिन्दी बाल साहित्य में कविताओं का विपुल भंडार है। इक्कसवीं शताब्दी में भी बाल काव्य लेखन की परम्परा जारी है। वर्तमान समय में तीन पीढ़ियों के रचनाकार बाल साहित्य में सृजनरत हैं। सैकड़ों की संख्या में बाल कविताएं लिखी जा रही हैं, परन्तु जब अच्छी और मन भावन कविता का सवाल आता है तो वरिष्ठ बाल साहित्य कन्हैयालाल की ये पंक्तियाँ अनायास ही मन पटल पर गूज जाती हैं— “अच्छी बाल कविता वह है जिसे पढ़ या सुनकर बच्चों के मन की कली खिल जाती है।”

वर्तमान समय में बच्चों के मन की कली खिलने वाली कविताओं का भंडार है। बच्चों का अपना परिवेश, उनकी रंग-बिरंगी दुनिया बदली मनः स्थिति और अनूठी कल्पना का बाल संसार कविताओं में हिलोरे ले रहा है—

बूदी की दीवार छत रसगुल्ले की होती

वही गजक का पलना होता, तो कैसा होता ?

एक बड़ा तालाब लबालब, रबड़ी का होता।

उसमें रोज तैरना होता तों कैसा होता?²

इक्कीसवीं सदी में जी रहा बालक न केवल आज की समस्याओं से परिचित है बल्कि पिता की कम तनख्वाह उसकी चिन्ता का कारण है उसे पता है कि इस सुरसा की तरह महगाई में पापा महीने का खर्च कितनी मुश्किल से चला पाते हैं—

पापा की तनख्वाह में। घर घर के सपने

चिन्टु का बस्ता। मिन्टी की गुड़िया। अम्मा की साड़ी।

दादी की पुड़िया। लाएँगे पापा जी अपने।

पिछला महीना तों। मुश्किल से काटा। आधी कमाई में

सब्जी और आटा। अगले में घाटे। पड़ेगे ये भरने।³

आज इक्कीसवीं शताब्दी में जिस तेजी से परिवार भी टूटते चले जा रहें हैं और सामाजिक विघटन हो रहा है। परिवार में न तो दादा दादी हैं और नही नाना-नानी आकर किस्से कहानी सुनाते हैं। पति-पत्नी का आपसी मनमुटाव रोज-रोज के झगड़ों में बदलता जा रहा है। इससे बच्चों का मन आहत होकर अंदर ही अंदर टूट रहा है—

“सुबह-सुबह मम्मी पापा में, जमकर हुई लड़ाई थी।

दोनों के तू-तू मैं-मैं में, मेरी हुई पिटाई थी।

मम्मी चुप है, पापा चुप है, अलग थलग दोनों बैठे

दोनों का मुँह फूला-फूला, आपस में दोनों ऐंठे।

मैं मम्मी को गया बुलाने, मुझको बड़ी जोर से डाँटा

पापा से एक बात कही थी, बड़ी जोर से मारा चाटा।

सुबह-सुबह बक-बक, ३ क-झक में, दादी की बस छूट गयी

टेबिल पर रखी थी शीर्ष। गिरी झन्न से फूट गयी।

समझ नहीं पाता हूँ, अब मैं क्या विद्यालय जाऊँ?

या रुठे मम्मी पापा को, फिर से चलूँ मनाऊँ?⁴

बाल साहित्य में बच्चों की मनः स्थिति के ढेर सारे रूप रंग हैं। जो इक्कीसवीं सदी के बाल साहित्यों में दिखाई दे रहे हैं। आज की हिन्दी बाल कविता बच्चों की सोच और संवेदना से जुड़कर आगे बढ़ रही है। आज बच्चों की समस्याएं बस्ते की बोझ से बढ़कर परीक्षा के परिणाम पर आकर टिक गयी हैं।

हो गयी मुश्किल पढ़ाई क्या करें। पुस्तको की बाढ़ आयी क्या करें?

क्या मजे थे नर्सरी के ०जी० के दिन उन दिनों की याद आयी क्या करें?

कल हुआ था टेस्ट दस में दो मिले।

हो रही है जगहँसाई क्या करें?

क्यों मिले है अंक इतने कम बताओं

पूँछते हैं ताऊ-ताई क्या करें?

वर्तमान परिवेश में जिसप्रकार साहित्य की अन्य विधाओं की तरह बाल साहित्य भी अछूता नहीं रहा बल्कि इक्कीसवीं सदी में कूड़ा बीनने वाले सड़क पर घूमने वाले घरों में काम करने वाले तथा पढ़ाई न करने वाले बच्चों को भी बाल कविताओं का विषय बनाया गया है। घरों में बर्तन साफ करने वाली महरिन की बेटी रमेली जब एक दिन अपनी माँ की तरह बर्तन माजनें आ जाती है तो उसकी पूरी दिनचर्या कविता का विषय वस्तु बन जाती है।

आई है महरिन की बेटी। महरिन आज नहीं आयेगी

यही आज माजेगी बर्तन झाड़ू करके जायेगी घर

पढ़ने कभी नहीं जाती है, पर किताब मागा करती है।

कहती है क्या लिखा हुआ है। यह अपनी माँ से डरती है।

इसको कई घरों में जाना, निपटाना है काम वहाँ पर

माँ ने उसे दिया है टाइम, उसी समय वह पहुँचेगी घर।।

इक्कीसवीं शताब्दी में जहाँ नए-नए विषयों पर बाल कविताएं लिखी जा रही हैं, वही घिसी-पिटी बासी उबाऊ तथा सपाट बयानी की कविताओं का बाहुल्य है, इधर कुछ गम्भीर विषयों पर भी कविताएं लिखी जा रही हैं उदाहरण स्वरूप इस कविता में तुकबन्दी भी है—

बीर बनो तुम धीर बनो। भारत की तकदीर बनो

सज्जन और सुशील बनो। गुणवन्त बनो गुणशील बनो।

तुम हर किसी का भीत बनो। तुम नये कविता का गीत बनो।
मान बनो और शान बनो। तुम भारत वीर जवान बनो
तुम सबके सब इक प्राण बनो। कोई सुन्दर मंगलगान बनो।⁵

आज इक्कीसवीं सदी में बच्चों को अगर ऐसी कविताएँ दी जायेगी तो निश्चय ही बच्चें उसे नकार देंगे अगर वर्तमान समय में मीडिया के बढ़ते प्रभाव को अगर बच्चों की पुस्तकों से जोड़ा जाए तो उन्हें नये भाव बोध और वर्तमान परिवेश से जोड़ना होगा। कुत्ता-बिल्ली, बंदर-भालू जाड़ा गर्मी, बरसात की कविताएँ इतना कमजोर तथा अधि-क लिख दी गयी है कि उनमें नये पन की गुजारिश बहुत कम है। बाल कविताओं का मुख्य रूप से नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में पहले से कमजोर कविताये लिखी जा रही है 'बरसात के दिन कविता' का उदाहरण देखिये-

महीने बीते, बीते दिन। फिर लौटे बरसात के दिन
घना अंधेरा छाया है। बादल पानी लाया है।
छम-छम पानी बरसेगा। नहीं पपीहा तरसेगा
मेढ़क भी टर्राएंगे। गाज-बाज से गार्येंगे।
सरद हवाएं आएंगी। सबका मन बहलायेगी।⁶

वर्तमान समय में प्रायः सभी बाल गीतों में बाल मनो विज्ञान का भरपूर ख्याल रखा गया है। क्योंकि बालगीतों का बालको के लिए आनन्द दायी महत्त्व ही नहीं होता बल्कि ये बच्चों के स्वर्णिम विकास करने में बहुत सहायक होते हैं। गीतों में तुक स्वरों की संतुलित व्यवस्था ही अव्यक्तरूप में बच्चों के मन को संतुलित बनाये रखने के लिए प्रेरणा दायक होती है। श्री प्रसाद जी की कविताओं में अनोखी लय और गति देखने को मिलती है जो परिवेश का पूर्ण रूप से निरूपित करती है।

हल्लम हल्लम हौदा हाथी चल्लम चल्लम
हम बैठे हाथी पर, हाथी हल्लम हल्लम
लंबी लंबी सूँड, फटाफट फट्टर फट्टर
लंबे लंबे दाँत खटाखट खट्टर खट्टर
भारी भारी सूँड पटकता झम्मम झम्मम
हल्लम हल्लम हौदा हाथी चल्लम चल्लम।⁷

इक्कीसवीं सदी में बालगीतों में मनोरंजन की भरमार है। ये मनोरंजन कभी मोटे लाला के माध्यम से तो कभी मेढ़क मेढ़की के शरारतों से उत्पन्न होता है जैसे-
बीस कचौड़ी पूड़ी तीस। दही बड़े खाए इकतीस
लाला सबकुछ खाकर के। बोले झल्लाकरके
पापड़ नहीं खिलाया है, भूखा मुझे उठाया है।⁸

यह कविता बालको का मनोरंजन तो करती है। परन्तु साथ में अपनी मातृभाषा से प्रेम रखने का संदेश भी प्रदान करती है इन कविता (गीतों) में बाल मनोरंजन का भरपूर ख्याल रखा गया है तथा इन कविताओं से बालको का मनोरंजन नया रूप प्रदान करता है।

यही नहीं आज पत्र पत्रिकाओं में अशुद्ध और शिथिल बाल कविताएँ प्रकाशित हो रही है। बाल कविताओं में छंद का टूटना आम बात हो गयी है। ऐसे में वरिष्ठ बाल साहित्यकारों की कविताएँ लोग धड़ल्ले से अपने अपने नाम से प्रकाशित करा रहे हैं। अगर बच्चें ऐसा करते हैं तो उन्हें एक बार क्षमा भी किया जा सकता है। परन्तु बड़े ऐसा कृत्त कर रहे तो उनका ईश्वर ही मालिक है। ऐसी समस्याओं से जूझना ही बाल कविता का प्रश्न उठाया जा रहा है। परन्तु बड़े ऐसा कृत्त कर रहे हैं तो समस्या और जटिल हो जायेगी।

यह बताना समाचीन होगा कि पिछले एक दशक में हिन्दी बाल कविताओं के अनेक संग्रह प्रकाशित करके कई प्रकाशन ने मोटी रकम खड़ी किये हैं। बाल कविताये बालगीत शीर्षको से प्रकाशित इन संकलनों में कई संकलन तो बासी रचनाओं का पुलिंदा है। बच्चों के प्रिय पुस्तक माला में भी एक समीक्षक ने यही किया प्रकाशक शुद्ध रूप से व्यवसायी होता उसे साहित्य से कुछ लेना देना नहीं होता वह किताबें बेचने की कला में पारंगत होता है।

इक्कीसवीं सदी में पाठ्यपुस्तकों में यह धंधा और तेजी से बढ़ा है अनेक प्रतिष्ठित बाल साहित्यकीरों की रचनाएं प्रकाशकों ने विना नाम के अपने यहाँ से प्रकाशित संकलनों में छाप ली है। चूँकि नाम नहीं है, इसलिए अनुमति लेने का सवाल ही नहीं उठता। मानदेय की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

वस्तुतः सम्पादन एक गम्भीर कार्य है। परन्तु तथा कथित लोग इसे गम्भीरता से न लेकर बहुत हल्के में ले लेते हैं। रचनाकारों को पहले पत्र लिखकर रचनायें भाग लेते हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इधर उधर छपी रचनाओं को एकत्र कर लेते हैं। फिर एक मोटा संकलन तैयार करके प्रकाशक को सौंप दिया जाता है। वह सम्पादक से जोड़ तोड़ करके एक मुश्त थोड़ी रकम उसे पकड़ा देता है। सम्पादक खुश होजाता है। उसे जो चाहिए उसे मिल गया मगर रचनाकार कहा जायें तथा अपना दुःख किसे कहे। उसे सिर्फ आश्वासन मिलता है कि प्रकाशित होने के बाद संकलन की एक प्रति उसे भिजवा दी जायेगी। कुछ दिन बाद उसे रचनाकार भूल जाता है। और प्रकाशक लेखकीय प्रति की मोटी रकम खड़ी कर लेता है। इस पूरे खेल में कोई बेचारा है तो वी सिर्फ रचनाकार। सरकारी कार्यलयों में भी किताबें खरीदने के लिए मोटी रकम दी जाती है। परन्तु रचनाकार को देने के लिए भौं सिकोड़ने लगते हैं। बाल साहित्य में यह स्थिति घरमोत्कर्ष पर है।

बाल कविता के नाम पर एक तमाशा हो गया है। प्रौढ़ साहित्य के नाम पर प्रकाशक बच्चों की कविताओं को मोटे टाइप में छाप कर बेच रहे हैं। हजार दो हजार में कापी राइट खरीद कर प्रकाशक लाखों का व्यापार कर रहे हैं। अलग-अलग प्रदेशों

में प्रौढ़ शिक्षा के नाम पर थोक खरीदारी होती है। चयन समिति के नाम पर बड़े-बड़े अधिकारी खुद बैठते हैं। और आपस में ही बंदर बांट कर लेते हैं। जिससे कि बाल साहित्य के प्रचार-प्रसार में अनेक रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। इसके बाद भी बाल कविताएं लिखी जा रही हैं तथा छप रही हैं। जिससे बाल साहित्य को बढ़ावा मिल रहा है। ऐसे में यही कहा जा सकता है कि स्थिति तनावपूर्ण के बावजूद नियंत्रण में है। हम आशा करते हैं कि बाल साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

सन्दर्भ -

1. मेरी प्रिय बाल कविताएं डॉ-सुरेन्द्र विक्रम, पृ०-84
2. धरती पर चाँद डॉ-शंभुनाथ तिवारी, पृ०-35
3. टिन्नी जी ओं टिन्नी जी, -रमेश तैलंग, पृ०-19
4. मेरी प्रिय बाल कविताएँ-डॉ-सुरेन्द्र विक्रम, पृ०-37
5. बाल गीत- प्रत्यूष गुलेरी, पृ०-28
6. बरसात के दिन-नेशनल बुक ट्रस्ट
7. बाल कविताएँ-डॉ श्रीप्रसाद
8. शिशुगीत-डॉ श्रीप्रसाद

IMPACT OF RAMAYANA ON INDIAN LITERATURE

Prof. Satya Deva Mishra

Former Vice-Chancellor, J.R.S. Sanskrit University, Jaipur

The Rāmāyana of Ādi Kavi Vālmīki is a work of perennial interest. It has swayed the hearts and minds of millions of Indians for countless ages. It has inspired them to high thinking, noble effort and right conduct. Even today, there is hardly a place in India where the Rāmāyana story is not told or expounded in Sanskrit or in the other Indian languages to hundreds of men women and children who listen to the discourse with rapt and rapturous attention. "Probably no work of world literature, secular in its origin" remarks, A.A. Mac Donnell in the *Encyclopedia of Religion and Ethics* has over produced so profound an influence on the life and thought of people as the Ramayana. It is an inexhaustible reservoir of themes episodes and ideas from which writers in all Indian languages have freely drawn. It has been rightly observed that "Imitation in detail of the Ramayana is Agreement and patent and its language and verse technique deeply affected the whole of the history of the kāvyas."¹

The Valmiki Ramayana is an indispensable treasury of Indian languages and literature. It has been translated (or trans created) in whole or part- in almost all the major languages- including Sanskrit. The *Rāmōpakhyāna* in the Mahabharata represents a free summary of the Vālmiki text. The puranas also contain the Rama story. In the *Brihaddharma purāna*, we have an elaborate treatment of the Rāmāyana. To come to the vernacular transcription, the first Tamil Ramayana was produced by Kamban in the 9th century A.D. Abhinava Pampa of the 12th century A.D. created the abridged version of the Rāmāyana in Kannada. The Telugu Rāmāyana of Raviganātha containing 17, 290 *dvipades* or 34, 580 lines appeared in 1240 A.D. Rāma Panikkar prepared the Malayalam Rāmāyana in the early 15th century A.D. the Bengali Ramayana of Kirtibas Ojha and the Marathi Rāmāyana of Ekanatha appeared respectively in the 14th and 16th

century A.D. A remarkably authentic Assamese translation of Ramayana was produced by Madhav Kandali in the 14th century A.D. The first Oriya version of Ramayana was prepared by Balramdas of the 16th century A.D. The credit of, composing Kashmiri Rāmāyana goes to Sankara of 1843 A.D. In Hindi, the best known version of the Ramayana is the Ramcharitmanasa of Sant Tulsidas belonging to the 16th century A.D.

Indian writers produced not only the direct translations and adaptations of the Ramayana, but also wrote innumerable works on the Rāmāyana themes infusing into them their own poetic fancies and innovations. As it is not possible to give an account of this vast Ramayana material in limited space, we shall deal only with the Rāmāyana influence in Sanskrit and Hindi.

Coming to the Sanskrit literature, we find that besides the Mahabharata and the Puranas, there are a large number of works which describe the lives of Srī Rāma and Sītā in prose as well as poetry. Kalidasa's longest poem the *Raghuvamsa*, deals mainly with Rama's life and achievements. With his *Raghuvamsa*, Kalidasa became next to Valmiki the leading Ramayana poet. After the *Raghuvamsa*, the next direct poem based on the Ramayana is the *Rāvana-Vadha* of Bhatti (about A.D. 600) which serves the double purpose of narrating the story of Rama and illustrating the rules of grammar. The Javanese Ramayana *Kakawin of Yogisvera* is partly a close and partly a free translation of this Bhatti – Kāvya. In Sri Lanka Kumāradasa produced the next important Ramayana Mahakavya, the *Jānakī harana*. Another noteworthy in this line is the Rāma charita of Abhinanda who wrote it in the 900 A.D. under the patronage of Pala kings of Bengal. In the 11th century A. D., Ksemendra produced the *Ramayana mānjarim*, which is an abridgement of the Vālmiki Ramayana in 6,400 stanzas. Another Ksemendra's work, the *Dasavatāra - charita* contains a short account of the Ramayana story in 293 verses. King Bhoja of Dhara in Malwa is credited to have written the *Ramayana campū*, which deals with the story of Sri Rama following the Ramayana of Valmiki. The Rāmāyana *campu* is however, available only up to the Sunderakānda. Many poets in the latter period tried to complete it by composing the Yuddhakānda. Markandeya Misra produced a poem *Dasagrīva vadha* containing the Ramayana story till the Uttarakānda. In the early 20th century,

Tarka Vācaspati Madhusūdena composed a kavya *Itanumatsandes* 'a the novelty of which consists in Hanuman's carrying the news of grief stricken Sita to Srī Rāma chandra. A noteworthy contemporary poem based on the Ramayana episode is the *Pādukā-vijaya* of Pandita Sudershan Pathi from Orissa.

Prakrit poetry or play was an integral part of Sanskrit literature. Prakrit language has also been used for Ramayana poems. The best work in it is the *Setubandha* or *Ravanavadha* written by the Vakataka king Pravarasena in the 5th century A.D. Next important Prakrit work is the *Gāthāsaptasati* of Hala Satavahana which contains not only characters and scenes in the Valmiki Ramayana, but also uses the fancies and conceits of Valmiki.

The Ramayana figured along with the Mahabharata in a class of poem called *Dvisandhāna* in which two stories are narrated in the same poem through the use of *ślesa* or *double antandre*. The *Raghava pandaviya* of Kaviraja and the *Raghava-Yādaviya* of Vasudeva, are the two noteworthy *Mahakavyas* of this category. The peculiarity of these works is that the words used in their composition spelt in different ways convey two meanings one for Rama and the other for Kṛṣṇa.

The later Sanskrit literature we produced in an age when the worship of Rama as God had developed to a high degree. This *Rāma-bhakti* gave further fillip to the production of *mahakavyas* (long poems) and *khanda-kavyas* (short poems) with the Ramayana theme. A class of the poems of the later ages which is specially to be noted in this connection is the *stotras* on prayers on different gods. Of these on Rāma are large in number. We have poets the Srīvainava polymath Vadantadeśika of the 13th century A.D. who wrote 1000 verses on Rama's sandals (*Padukasahasra*) which ruled Ayodhya as also beautiful prose, the *Raghuviragadya*. The poet, play wright and grammarian of the Tanjore court at the end of the 17th century A.D. Ramabhadra Diksita composed several hymns on Rāma, his bow and arrows.

We now come to be the Ramayana in Sanskrit drama. The earliest Rama plays that we have are those of the pre-Kalidasa dramatist Bhāsa to whom two Ramayanan plays are ascribed, the *Pratima* and the *Abhiseke*. The appearance of Bhavabhuti in the 7th-8th centuries the new into oblivion several excellent Rama-plays produced before

him, including the *Rāmābhudaya* of his own patron king Yasovarman. No less than 13 Rāma plays and several acts of Rāma plays now not available have been surveyed by Dr. V. Raghavan.² The best of these early Rama plays are the *Kṛtyār nava*, *Calit rama*, *Rāmābhudaya* and *Uttara-raghava*. Among the available ones those of Bhavabhuti lead the incomplete *Mahāvira-carita* on the earlier story of Sri Rama and the *Uttra Rama charita* on his later story. In the latter Bhavabhuti excels in the depiction of the sentiment of pathos *karuna-rasa*. Next noteworthy of plays are the *Anargha-raghava* of Murari and the *Balaramāyana* of Rajasekhara. From south India appeared the *Ascarya-cudamani* of Saptibhadra. Closely modeled on the *uttararama carita* is the *Kundamālā* of Dīnganāga. King Ksemendra mentioned earlier as the author of the *Rāmāyana manjari*, wrote a play on the later story of Rama, *Kanaka-janaki* named after the golden image of Sita with which during Sita's life in Valmiki's hermitage Rama performed his *Asvamedha* sacrifice. Of the Rāma plays of the later ages the best known is the *Prasanna-rāghava* of the logician Jayadeva of 1200 A.D. Ramabhadra Diksita, already referred to as a Rama poet produced a play *Janakiparinaya* following the style of Bhavabhuti, Murari and Rajasekhara poet, Mahadeva, a contemporary of Ramabhadra wrote *Adbhuta darpana* dealing with battle of Lanka and dominated by magic and wonder. A noteworthy Rama-play from Orissa is *Jānaki-pramoda* authored by Divākara. Like the Ramapoems the Rāma plays of later ages are large in number and they continue to be written even in modern times. Among the contemporary Rama-plays, the *Setubandha* of Balabhadra Goswami is worth mentioning.

The Ramayana had not only inspired Sanskrit poems and plays but is also the source of Sanskrit poetic theory. It is from the incidence of the sage-author Valmiki being witness to the cruel snooting of the male partner of the *Krauncha* bird couple and the measured utterance of his sorrow-filled condition, *śoka* of what turned out to be a verse sloka that the Rasa theory of Sanskrit poetics and dramaturgy is derived.³ The Ramayana is quoted often in the *Alamkāra* and *Nāṭya* treatises to illustrate different concepts of poetics or dramaturgy. It is quoted in books of other branches too, lexicography, grammar and above all the digests of Dharmasāstra as the Ramayana has always been a book of Dharmas and ācāras (conducts).⁴

A study of the Ramayana in Sanskrit literature would include the commentaries upon it. Sarvajna Nārāyana, Bhatta Devarama Kṛsnatirtha, Lokanātha Vimalabodha, Nagojibhatta and Mahesatirtha are the Ramayana commentor's from the different parts of the north India. Out of the twelve commentaries from the South India two are from the Andhra and ten from the Tamil area.

The story of the Ramayana in Sanskrit literature does not stop with Valmiki's works and the poems and plays based on it. In the wake of the rise of different schools of philosophy and religion and the growth of Bhakti towards Rama as God, a class of work rose bearing the name Ramayana and dealing with Rama as Godhead and oriented to the treatment of the story and character of Rama and Sita from different philosophical and religious approaches. The earliest of them is the *Bhūsundi Rāmāyana* edited by Dr. Bhagawati Prasad Singh. It assimilates the personality of Rāma to that of Kṛṣṇa and introduces *Madhura Bhakti*. Next comes the *Adhyatma Rāmāyana* of the time of Ramanand which is a philosophical version of Valmiki, written on the background of Smārta Advaita tradition synthesized with *Rāma bhakti*, bringing Siva also into the tradition of *Rāma-bhakti*. The third is the *Adbhuta Rāmāyana*. It is a short text in about 1000 verses, which glorifies Sita, identifying her with Sakti and Durga and narrates her exploit of killing the hundred headed Ramana before whom Rāma could not do anything. The fourth the long *Ananda Rāmāyana* is for more interesting in its numerous stories particularly of Rama, as ruler and records several of them that are current in religious discourses and performance of *kīrtana* and *Kathā*.

The impact of the Ramayan on Hindi literature is equally profound. Here we may go back as far as the *Paumacariyu* of the 9th century A.D. produced by *Svayambhūdeva* in Apabhraṇṣa known as old Hindi. The next Hindi work with the Rāmāyana theme was written by poet Bhupati in 1285 A.D. which is unavailable. One Bhagawat Das is said to have authored the *Bheda Bhasker Rāmāyana* in the 14th century A.D. with a pure philosophical context. The next noteworthy Rama-poem is the *Sura Rāmāyana* in Braj Bhasa by Surdas, the great devotee of Lord Krishna. Then appears Sant Tulsidas, the author of the widely acclaimed *Ramcharitmanas* with his contemporaries Swami Agradas, Keshavdas and Chintamani Tripathi, Tulsidas, besides his

magnum opus Ramachritmānas wrote many other poems namely *Dohāvali Kavitārāmayana*, *Gitavali*, *Vinayapatrika Ramalalanana-achu*, *Janaki-mangala*, *Varvoi Ramayana*, *Vairagya-Sandipini* and *Rāmājna prasnava*. Swami Agradas produced the *Ramadhyana-manjari* describing the divine beauty of Lord Rama in sweet and elegant words. Keshvadas is the author of a scholarly Rama-poem the *Rama-chndrika*. Its contents are influenced by the Sanskrit plays *Prasanna Raghva* and *Hanumannātaka*. Chintamani Tripathi, the brother of great Hindi poets Bhusana and Matirāma wrote a Ramayana in Hindi which attracts attention for the skilful use of *kavitta* and other metres. Other noteworthy productions in this line one the *Rāmāyana mahānā* taka of Pranachandra Chauhan (1610 A.D.) presenting the Rama story in dialogues and the Avadhvilāsa of Laldas (1643 A.D) containing the exploits (lilas) of Rama and Sita. In the eighteenth century A.D. we have Janakraj Kishori Sharan who wrote several works on *Bhakti* and *Ramacharit*. His works with the Ramayana theme are. *Ramarasatarangini*, *Raghuvavakerunabherana* and *Janikikaruna bharana*. The nineteenth century had many profile Rama poets in Hindi. Important of them are: Giridhardas Naval Singh Kayasth and Vaghl king, Visvanath Singh of Rewa. Giridhardas is credited to have authored 40 works including four with the Rama theme, namely the *Rama kathāmrita*, the *Shriramastotra* the *Ramastake* and the fourth a poetic translation of the complete *Valmiki Ramayana*, Naval Singh kayasth wrote *Alha Rāmāyana*, *Adhyatma Ramayana* and *Sita Rāmāyana* dealing with the story of Rama and Sita. Vaghel king Vishwanath Singh similarly contributed a number of works, a commentary on the Valmiki Rāmāyana, *Ramachandrnikā*, *Ramagitatika*, *Sangita raghunundena*, *Anand Ramayana*, *Ramachandrakī Svāri* etc. He also wrote a Rama play, *Anandaraghunendana* for the stage performance. Rashtrakavi Maithili Sharan Gupta was among the leading Rama poets of the 20th century. He wrote two beautiful Rama-poems in khariboli the *Saketa* and the *Pancavati*. Other Rama-poems of modern period are *Ayodhya ka bilapa* by the noted Hindi critique, Mahavir Prasad Dwivedi and the *Rama ki shakti puja* by the famous chayavadi poet, Suryakant Tripathi 'Nirala'. Endless is the Ramayana literature in Hindi, but none of its works is as popular as the *Ramacharitmānas* V.S. Smith considers its author Tulsidas to be the "greatest man of his

age in India". Dr. Ram Awadh Dwivedi has acclaimed it in the following words. "It is often said that no decent English household is without a copy of Shakespeare's works and the Bible, but *Rāmacharitmānas* of Tulsidas, for the teeming millions of North India takes the place of Bible and Shakespeare combined".⁵

Notes and References

1. Keith, A.B. *History of Sanskrit Literature* P.45
2. *Some Old Lost Rāma Plays* (Annamalai University p.1961)
3. Rāghāvan, Dr. V. *The Ramayan in Sanskrit Literature in Rāmāyana Tradition in Asia* (Sahitya Academy), New Delhi, 1980.
4. Ibid p.15.
5. *Hindi Literature* p.49.

PAÑCĀKSARA MANTRA & ŚAIVISM

Dr. Rama Ghose

*Ex. Head, Deptt. of Philosophy, Arya Mahila P.G. College.
Chetganj, Varanasi*

The concept of Śiva and his worship have been described in both Nigama and Āgama. Yajurveda, Brāhmaṇṣ, Āraṇyak, Upanisads, Purāṇṣas, Itihāṣas along with the 28 Siddhantgamas eloquently preach the doctrine of Śaivism and the process and procedure to attain the end of life. As have been preached by the scriptures, Āgamas are emanated from the five faces of Śiva and reach the goddess Pārvati, Ṛṣis and other divinities for the welfare of mankind. Scriptures advocate the nature of Reality as Śiva, its relation to creation and man, the process of worship of Śiva along with the manifestation of 7 crores of hymns that are eternal in nature. In Śaivagamas, Śivamantras have been described as the most important of all. Again, it has been asserted that Aghora mantras are superior to all Śiva-mantras and finally Pañcaksara mantra stands as the supreme, the processor of the whole manifestation and the bestower of all achievements. This is the essence of all hymns, equivalent with and ever affixed with Pranava. The glory of Pañcāksara hymn is immense. Later Śaiva philosophical schools have described its three phases as sthūla, sūksma and kāraṇa Pañcaksara in accordance with the spiritual stages of the sādḥaka.

All systems of Indian Religion and Philosophy aim to the final end i.e. Mokṣa. Mokṣa is the goal of life and so various aspects of cultural life directly or indirectly lead to this aim of human life. Mokṣa and its means have been stated from different perspective in our multifaced rich culture. This essay is concerned with the Śaiva Siddhānta, an important school of Śaivism prevalent mainly in the southern part of India i.e. Tamilnadu.

Though the concept of Mokṣa and Pañcaksara is common in all schools of Śaivism but Umāpatī Śivācārya, the philosopher – saint, has attached a special significance to this famous hymn in his esteemed book *Tiruvarutpayan*.

Tiruvarutpayan is one of the eight Siddhānta scriptures, compiled by St. Umāpatī Śivācārya. It consists of hundred couplets that are uniformly divided into ten chapters. This work is also known as the mokṣa-pāda of Tiruk-kural, the famous work of Tiruvalluvar. The ninth chapter of this book, namely 'Ainteuttaru nilai' deals with the state of Grace through Pañcaksara. The whole book is a statement of the manifestation of Grace through ten different chapters. The equivalent work for Grace in Sanskrit is 'Kripā' Karuṇā, Anukampā, Prasād and in Tamil it is 'Arul'. Both the words are pregnant with ideas and also have the sense of ultimacy. According to Śaiva Siddhānta, Śiva and Śakti are the two aspects of the one and the same Principle. Śiva is the base, static, transcendental and Absolute, where as Śakti is the dynamic, creatrix and the efficient cause of the universe. Māyā, named as Parigrahaśakti is the material cause of the world. Pati, Paśu and Pāśa are the three entities. Paśu, the souls are enveloped with āṇava mala beginninglessly. Āṇava limits the all pervasive consciousness of the soul and makes it dormant like an inert object. Cit-Śakti pierces through the darkness and endows the soul with māyā and karma. God as Cit-Śakti first destroys the ignorance, then creates the world. Creation, in Śaiva Siddhānta, is purposive. It is for the redemption of the soul. In Śaiva Siddhānta, destruction is prior to creation. The question arises as to what is destroyed before creation? Śaiva Siddhānta replies that it is the peach dark ignorance of āṇava mala which is pierced through by the dynamism of cit-śakti and the souls are endowed with the māyā and karma for the maturation of āṇava mala. In creation, the soul revolves round the cycle of births and deaths and thus the āṇavamala gets matured. This fructification of mala has its own importance in Śaiva Siddhānta. When mala-paripāka and karma-sāmya coincide, śakti is the only operator. It functions in two ways- one is in a concealed way, keeping the real nature behind the form and the other is in fully exposed manifested form. Both are not only important but also inevitable for the man to fulfill his spiritual journey. It is only the cit-śakti who prepares the soul for the final attainment by providing tanu, kāraṇa, bhāvana and bhoga through māyā and karma. Māyā and Karma, being inert, are unable to fulfill any purpose of their own. Cit-śakti energises and activates them for the benefit of the soul. Cit-śakti performs this function hiding her own nature, as soul is unable to receive her Grace

consciously. When the receptacle is prepared, cit-śakti reveals herself in full-bloom. It is one and the same thing, functions in two ways for the benefit of the soul. So Śaiva Siddhānta advocates that the power of God, Cit-śakti is the supreme principle which not only makes the journey possible, but also bestows the final end. These two aspects are named as Tirodhāna and Anugraha that functionally seem to be different but, intrinsically are one and the same. Thus Śaivasiddhānta elaborately propagates the importance and significance of the role of cit-śakti in accomplishing the soul's goal of life. Thus Grace of God is the central theme of Śaiva Siddhānta.

This introduction was necessary to understand the three phases of Pañcaksara mantra which Umāpatī Śivācārya has stated in his book *Tiruvarutapayan*. The three phases of Pañcaksara mantra are (i) नमः शिवाय, (ii) शिवाय नमः and (iii) शिवाय शिवः. These three phases correspond to the three spiritual attainments of the soul. The soul, in the process of release from the bondage makes gradual progress to perfection. In course of these attainments ten distinct changes are marked and each change is considered to be a step forward. These ten steps are technically known as daśkrāyāni under the following terms: tattva-rūpa, tattva-darśana, tattva-śuddhi, ātma-rūpa, ātma-darsana and ātma-śuddhi, Śiva-rūpa, Śiva-darśana and Śiva-yoga, Śiva-bhoga. The ten stages mentioned above are meaningful to the soul who has to win over the operations of the thirty-six tattvas beginning with the grossest evolute prthvi and ending with the subtle evolute called nāda. The first three stages are related to the gross objects when the soul gradually realizes the transitoriness and inertness of the phenomenal world. As a result of the true knowledge of this world of experience, the soul turns towards the enquiry of its own nature and becomes conscious of the consciousness of its own self. This awareness of its own self is the awareness of its own consciousness, attained gradually during the three stages of ātma-śuddhi corresponds Śiva-darśana, then the spiritual enjoyment of cit-śakti named as Śiva-yoga and finally the goal of life is achieved i.e. to be one with, non-dual, अनन्यत्व with Śiva, technically named as Śiva-bhoga, the enjoyment of the bliss of God by being one with God.

Now, to understand the relation of the aforesaid phases of the Pañcākāśra mantra with the spiritual progress of the soul, we have to take note of the significance of the five-syllable-hymn. The word 'न'

and 'म' represent the world of impurity causing the bondage of the soul, 'Śi' denotes the highest principle i.e. शिव and 'vā' is His consort representing His Grace. The syllable 'य' stands the soul. So, in 'नमः शिवाय' the pāśa represented by 'नम' comes first that signifies the ignorant or bounded state of the soul. Then by the gracious help of Cit-Śakti, soul is able to be in constant companion with Cit-Śakti keeping the pāśa behind it. Then the Pañcākāśra mantra assumes the form of 'Śivāya namah' शिवाय नमः. This signifies the state when soul is aware of the all pervading presence of Cit-Śakti and put himself i.e. 'य' in constant companion with Śiva-śakti by being aloof from pāśa and keeping it behind. Umāpatī very aptly describes the state as a person keeping the torch in front and seeing everything in that light. But it is not the end. Finally, by tīvra-śakti-nipāta i.e. by the onset of Anugraha śakti the soul is immersed in all-light. This is the state of the enjoyment of the bliss of God by being one with God. In Śaiva Siddhānta, this non-dual state is termed as 'अनन्यत्व'. In terms of the ten stages, this is the final goal i.e. शिवभोग, the culmination of the journey. Pañcākāśra mantra takes the form as शिवाय शिवः i.e. the soul is immersed in Śiva. Mala is totally overpowered by the Grace of God, there is no न and म. It is only शिवाय शिवः.

To conclude, first phase indicates the empirical level of the soul, who remains closely associated with the world of objects being unaware of the underlying existence of Cit-Śakti and so, the mantra is नमः शिवाय. Second phase signifies a distinct spiritual progress in which the soul remains in constant companionship with Cit-Śakti keeping the pāśa behind and the Pañcākāśra mantra assumes the form as शिवाय नमः. Finally, pāśa is subdued and overpowered by the Grace of God and the soul is one with it and the Pañcākāśra mantra turns into शिवाय शिवः. The second phase may very well be termed as Śiva-yoga, when the soul enjoys the presence of Cit-Śakti by being fully aware of it, though the mala is not totally extinguished. So, the mantra is शिवाय नमः. Only the final stroke of Grace i.e. Anugraha flashes everything. Mala is subdued by Anugraha śakti and the soul is one with Śiva by being totally free of mala. This is named as Śiva-bhoga and the mantra is शिवाय शिवः. Cit-Śakti is the only mediator between God and the soul and the only bestower of the nature of God. So, Pañcākāśra mantra which is of the nature of God, assumes different forms corresponding to the different

spiritual status of the soul as Cit-Śakti bestows the Grace in accordance with the acceptability of the recipient. The first phase of Pañcākāśra mantra i.e. 'नमः शिवाय' is known as 'Sthūla', the second one 'शिवाय नमः' is named as 'Sūkṣma Pañcākāśra' and the third one शिवाय शिवः is indicated as 'Kāraṇa Pañcākāśra'.

So, Pañcākāśra mantra is the manifestation of Śiva Himself that alone can lead to the end of life and impart the bliss of Śiva.

References:

1. *Tiruvārūṭṭayan*: St. Umapati Shivacharya (Tamil)
2. *Śivaprakāśam* : do (")
3. *Unṣmaineri Vil?akkam*: St. Umapati Shivacharya (")
4. *Śivajñāna Bodam*: St. Meykan?dādeva. (")
5. *Śivajñāna Siddhiyar* (Supakkam): St. Arulnandi Shivacharya (")
6. *Shaivism in Philosophical Perspective*: Prof. K. Sivaraman (English)

CAN SCIENCE AND PHILOSOPHY MEET? SOME REFLECTION ON THE SCIENCE - PHILOSOPHY INTERFACE

Dr. Uma Pant

Associate Professor in Philosophy, Arya Mahila P.G. College,
Chetganj, Varanasi

We start with the basic question whether science and philosophy can meet at all, is there a common point of agreement. Philosophy from time immemorial have attempted to bring these two domains of knowledge together. They have attempted to make science more philosophical and philosophy more scientific. Because of this concern for science and philosophy interface has rises the school of scientific philosophy, especially in the twentieth century, especially Betrand Russell and the logical empiricists. But opposed to this school of thought are philosophers who believe that philosophy and science cannot be on the same level and that they belong to different domains of knowledge.

No doubt , Science and philosophy differ from each other not only in method but also in their goals. While science as understood generally is an investigation into the laws of nature, philosophy partakes an investigation in to the nature of Nature and laws there of. In this way philosophy is a meta scientific enquiry, that is a metaphysical investigation in the nature of reality as such.

II

Science and Scientific Knowledge

As is well known science, studies nature in the case of natural sciences where as other sciences like social and human science study phenomena relating to society and man and so on. Thus science is a study of phenomena which results in a systematic understanding of the subject matter both in its theoretical and experimental aspects Natural Sciences which have dominated all other science in the last few centuries are known for their well attested empirical and experimental methods of investigation. It is because of the experimental character that natural sciences share rapidly progressed on all fronts.

Scientific investigation aims at discovering laws of nature in the case of natural sciences. In social and human sciences the aim is more or less the same because human phenomena can also be brought under certain general patterns or laws like natural phenomena. However, it is only in natural science that we talk of the rigid laws of nature. The laws of nature are so called because they are the general principles by appealing to which we explain natural phenomena. Natural phenomena are given in space time framework. They are presented objectively to scientist for investigation. That is why, scientists are able to observe phenomena without any prejudice and pre conceived notions. They classify the phenomena can bring them under general laws or patterns. Thus are have scientific hypothesis, generalizations and laws established in all branches of sciences.

Scientific knowledge is such that it can be verified and established by experimental proofs. A theory in physics or chemistry or biological science can be subjected to verifications because there is a considerable amount of evidence which can be marshaled to prove such a theory. A scientific theory is empirical and verifiable. That is why all empirical sciences are based on human experiences in the ultimate analysis. However, it must be underlined that scientific theories are not mere products of sense- experience. The positivists theory of science expounded by Mach, Russell and other logical positivists is based on the principle that all knowledge is derived from sense experience. But there are other theories of science which accept principles, which are not strictly derived from sense experience. Human knowledge, according to them has scope to admit principles of a deductive mathematical nature such that the ultimate product of scientific discovery is a systematic theory based both on mathematics and experimental data. The dominant role played by mathematics in modern science points to the fact that science is not based on sense experience alone.

Immanuel Kant, Karl Popper, Ludwig Wittgenstein and many others in the non- positivist camp do believe that science is not a product of experience alone, they accept the mathematical nature of science precisely for the reason that there are principles of science eg. the law of causality the law of least action etc. which are hardly derived from experience. Wittgenstein aptly remarks -

"All such propositions including the principle of sufficient rea-

son, the law of continuity in nature and of least effort in nature etc. all these are apriori in sights about the forms in which the proposition of sciences can be cast."

Science from this point of view, is a matter of systematic construction by the principles of reason such that it contains propositions which are formal and mathematical in character Kant had hinted at this point, when he admitted synthetic a priori principles² in science.

Scientific knowledge is knowledge of the world, so far as it can tell in what way or ways the world organizes its various phenomena. The world has its own structure and functions. It is the aim of science to provide a picture world that more or less fits the world. The world picture is not an exact replica of the world but a first approximation towards it. Therefore, there always remains the possibility that we will know the world, however imperfectly. The world be many world picture some more perfect than others but there must be some description of the world which is true. It cannot be the case that we can never know the world at all. Skepticism is antithetical to the spirit of science.

The laws of science are the laws which science discovers in its study of Nature. There laws are the makings of the scientists in the first instance rather than the laws of nature. It is because the laws are "about the net and about what the net describes",³ as Wittgenstein puts it. This means that science discovers the laws only through its conceptual network, not as a matter of direct knowledge of the world. The conceptual network is the gift of science, because it is the gift of human reason in the ultimate analysis.

Science and Metaphysics

The domain of scientific knowledge provides scope for the domain of metaphysical speculation for the reason science itself presupposes metaphysics. Metaphysics consists in the truths, which constitute the foundations of science. The principles regarding the order of the world the nature of objects and the laws which connect object and the fields are the metaphysical principles which are presupposed by science. Metaphysics unravels these features of the world which are not the subject of matter of science. The best known example of metaphysical investigation is the form or substance of the world. This universal feature of the world is shared by all phenomena. However the

form or substance of the world cannot be the subject matter of science. It is no doubt the subject of metaphysical investigation.

Metaphysics is meta- science in the sense it searches for the foundation on which science itself stands. Science as the most natural of human activities needs a foundation which is as rational as science itself. That is science itself must presuppose general principles of understanding which its not full within the scope of science but remain outside it. For example the principle that the world has a rational order is a metaphysical principle Scientific investigation are meaningful because of the principle of the world which science studies is well ordered and rational in nature. The world around us has a deeply hidden order which science accepts as an assumption.⁴ If there is a chaotic world, how can there be a systematic knowledge of such a world ?

Metaphysics introduces the idea of reason and rationality by which it judges all activities of man including scientific activity. Science, has it has been such, is a gift of human reason. Man searches for explanation of the phenomena around him, there is the birth of science as a search for reasons and causes of the events that happen around us. As Karl Popper⁵ tells us that all sciences are tentative and they get confirmed or corroborated as we get on with world with scientific theories, Scientific knowledge grows in course of time and gets accumulated ever the centuries to constitute the scientific heritage of mankind.

Metaphysics has transcendental as well as an immanent aspect in that it tells us how the metaphysics principles operate in the world and get they transcend it. It combines both the principles, which make the world a well ordered phenomena and also the principles which are transcendental like those of cosmic order the divine Design and Freedom of will. The latter principles have nothing to do with the scientific image of the world, but metaphysics compels us to recognize them as rationally binding. We cannot think of the world without the Divine Design and cosmic order. These notions are transcendental in character.

The Transcendental image of the World.

Apart from the natural and empirical image of world discovered by natural sciences, the world too has a non-natural and transcendental image. Its natural image reveals how be nature works at the macro and micro levels. Science is the study of the laws of nature. But its non-natural image is deeper and more attractive. This face of the world

shows the ways the world has to be understood from the God's Eye point of view⁶. This view is be beyond space and time , that is outside the world itself. Metaphysics suggests that the naturalistic stand point is not enough and there is a higher transcendental point of view that reveals the inner meaning of the universe.

The universe has meaning in the sense that there is a way are can see the universe as a total reality which is a set of interconnections of meaningful units. The universe includes the human, species, the emergence of consciousness and the possibility of the spiritual development of man. All these possibilities are packaged into the meaning of the universe. Metaphysics takes into account all these possibilities so that it can offer a higher point of view than science can offer. Sciences are concerned with the facts of the universe, where metaphysics deals with the possibilities which are beyond scientific investigation.⁷

There is a question before metaphysics that why is there universe at all rather than empty, nothingness. In answering this the metaphysics invariably comes to the conclusion that is the universe and there must be reason for it. Universe cannot exist for nothing. Hence arises the search for ground of all existence, the ultimate destiny, Significance of all that is real. These metaphysical question are very deep questions even though we cannot answer satisfactorily they always persist in the human mind. Metaphysics raises these question of importance, and therefore has higher order status.

Metaphysics raises the question regarding man, universe and man's relation with the latter. These questions assume importance in view of the fact that man is the key player in the universe, not only because man has intelligence, but also he has freedom of will. Man has the capacity to rise above his circumstances and aspire for a higher life. This is the source of religion and ethics. Man's internal aspiration for spiritual and ethical life is the deeper metaphysical truth about man. This is the transcendental image of the world.

Limits of Science and Beyond

There is a world beyond the empirical world and that is the transcendental world, which cannot have a place in language of the empirical world of science. The empirical sciences are limited in so far as the transcendental realm is concerned. Science can limit at it but cannot describe. Thus there is division between what can be described

and what not. Latter can be taken as a deeper level of reality. It is the task of philosophy to demarcate the two domain of reality. Wittgenstein aptly writes.

"Philosophy sets limits to much disputed sphere of natural science."⁸

It must set limits to what can be thought, and in doing so, what cannot be thought, It sets limits to what cannot be thought by working towards through what can be thought."⁹

This is one way of making a distinction between what science can offer regarding the world and what must be left to metaphysics. Metaphysics does not claim to describe the realm of metaphysics, it leaves everything outside language and the world.

Metaphysics has tried to do to keep the metaphysics away from the world of science and empirical experience. It is not that science is unimportant but is limited in its capacity. It cannot represent the entire world. It leaves many things beyond the realm of science. There is a logical division between to world of empirical science and the world of metaphysics. Metaphysics goes beyond the science to search for the transcendental truths.

The world of the beyond is an implicit assumption of all metaphysics. From Plato to Wittgenstein there is a continuity of thought regarding the beyond ie transcendental. What is beyond the world is not away from the world. It is the very essence of the world. Plato's Forms, for example though transcendental are nevertheless, the constituting conditions of the world. According to Kant, the categories and principles of understanding are transcendental and yet they make the world that is phenomenally available to us. Wittgenstein makes logic and ethics transcendental and yet, according to him, they are the grounds of the world. This shows what is transcendental is not beyond the reach of the world; it is beyond the empirical description of the world. The transcendental face of the world is outside the empirical face but is not disconnected from it.

The idea of reality beyond or outside the empirical realm is not mystifying at all for the simple reason, that empirical is not the whole of reality. Reality has infinite possibilities and many dominions and so there is no reason to restrict to what is observable or demonstrable in experience. Our spiritual life is not to be physically proved since it is con-

cerned with inner life of man. In the same way to existence of soul and god cannot be matter of empirical proof. Thus these issues are kept out of the bounds of empirical or scientific knowledge. Science explores the domain of the empirical and cannot bring under the domain of the metaphysical. It is beyond the domain of science.

Why Philosophy and Science Cannot Meet

The two domains of knowledge cannot meet in the sense that each has its own area of operation and autonomy. Science has its own method, which a scientist cannot give away. We cannot expect scientists to raise such questions as to who is the creator of the universe ? There are the question for the metaphysician, who raises the most fundamental question regarding man and the world. Philosophy which includes metaphysics ontology, ethics etc. is an autonomous discipline. It is not science of any kind, if we take science to mean empirical sciences.

In the hierarchy of human knowledge then we have to keep philosophy and metaphysics at a higher level; and science at a lower level. Plato kept dialectical knowledge of philosophy at the apex level, while mathematics and empirical science at the lower level. He believed that philosophical knowledge is the forms of reality while the lower order knowledge is knowledge of the gross physical world. Knowledge of the forms is definitely more general and fundamental than the knowledge of the gross physical bodies. Science which is concerned with the physieal world cannot guarantee any knowledge of the essences or forms since the latter are not part of our empirical experience.

Kant has turned the Platonic essences into the universal and necessary truths which are presupposed by science. There truths are the foundations of human knowledge of the world. Here also the metaphysical truths are different from the truths of the sciences. The latter, according to Kant are not on the same level as those of metaphysics in terms of universal validity and necessity. Metaphysics is not science itself as the former provides the legitimacy of the latter. Science derives its justification from metaphysics which provides the transcendental source for the former as Kant would like to put it.

Ludwig Wittgenstein has provided a more clear- cut distinction between science and philosophy including metaphysics in the broad sense. According to him science and philosophy cannot be on the same

level because their realms are different and their methods and objectives are different.

He says "Philosophy is not one of sciences (The word philosophy must mean something whose place is above or below the natural sciences, not beside them).¹⁰

It clearly shows that the activity of philosophy is altogether different from that of two natural sciences. The reason is that philosophy includes many more things than science. Philosophy provides justification to science itself.

Wittgenstein believes that science has only a limited perspective and that it cannot go beyond certain limits. For example science cannot explain the meaning or significance of life in the world because it does not have any method of answering it. It can only provide a factual description of life and nothing more. Wittgenstein aptly writes " We feel that even when all the possible scientific questions have been answered, the problems of life remain completely untouched of course there are then no questions left and this itself is the answer".¹¹

That is to say that the questions or related to life which are completely metaphysical are completely out of place in science and this itself is an inadequacy in the methods of science.

Thus it be concluded that science and philosophy are two different streams of knowledge and that they are two different responses to the universe, one is conceptual and the other experimental in approach. Science studies reality in its domain of facts and laws, whereas philosophy studies the depth and significance of reality in its totality. Philosophy goes to the depth of the matter and puts a comprehensive vision of the world. Science always follows philosophy so far as the understanding of the universe and man is concerned.¹²

Notes and References

1. Wittgenstein Ludwig, *Tratatus Logico Philosophic us* trans. D.F. Pears and B.F Mc Guinness (Routledge and Kegan Paul, London, 1961) 6.34
2. Kant Immanuel, *The Critique of Pure Reason* trans N.K. Smith (Macmillan, London, 1929)
3. Wittgenstein, *Tractatus Logico Philosophic us* 6.35

4. Cf D.P. Chattopadaya, *Science, Technology, Philosophy and Culture* (PHISPC, New Delhi, 1996) pp. 78-116
5. Popper, Karl *Conjectures and Refutations* (Routledge and Kegan Paul , London , 1963)
6. Putnam Hilary, *Reason Truth and History* (Cambridge University , 1981)
7. See S. Gopalan *Select Proceedings of Indian Philosophical Congress* (Indian Philosophical Congress, 2001) p.46
8. Wittgenstein, *Tratatus Logico Philosophic us* 4.113
9. *Ibid* 4.114
10. *Ibid* 4.11
11. *Ibid* 6.52
12. S. Gopalan *op. cit* p.50.

FABLES IN SANSKRIT AND FRENCH LITERATURE

Sragdhra Sharma

Research Scholar, Dept. of French Studies, B.H.U. Varanasi

The Fables are usually very short stories in prose or in verse which tell the adventures of one or more animals, but also of people or things. The particular story gets to an end swiftly because what matters is not the story but the moral the people get from it. The moral helps to counsel and let the reader reflect: 'brevity' and 'moral' are the main elements of the fables. The characters of a fable are usually animals who talk and act like people while retaining their animal traits. The oldest known fables are those in the Panchatantra, a collection of fables in Sanskrit, and those attributed to the Greek Aesop, perhaps the most famous of all fabulists. Other important writers of fables include Jean de la Fontaine who has written in French, whose fables are noted for their sophistication and wit, the Russian poet Ivam Krylov, and the German dramatist and critic Gotthlod Lessing, who also wrote a critical essay on the fable.

The word "fable" comes from the Latin "fibula" (a story), itself derived from "fari" (to speak) with the Ula suffix that signifies 'little' hence a "little story". Fable can be described as a didactic mode of literature. That is, whether a fable has been handed down from generation to generation as oral literature, or constructed by a literary teller; its purpose is to import a lesson or value, or to give sage advice. Fables also provide opportunities to laugh at human folly, when they supply examples of behaviors to be avoided rather than emulated.

Fables have as their central characters animals that are given anthropomorphic characteristics such as the ability to reason and speak. In antiquity, Aesop presented a wide range of animals as protagonists, including "The tortoise and the hare" who were engaged in a race against each other and, in another classic fable, a fox which rejects grapes that are out of reach, as probably sour. Aesop is considered as the fable inventor. He was a Greek writer. We have versions of fables

by Aesop which date back to the Hellenistic Age. His fables are characterized by a concise and essential style, the characters are usually animals, with fixed features, men and gods, some times plants too, and in the end they all have a short moral. Aesop has his own special peculiarity, through his funny tales he shows men's merits and faults, with educational and, in a friendly manner. Aesop's creation has been copied by other writers of fables in all ages and countries. In the medieval and humanistic world Aesop's popularity was wide and the genre was taken from him, with different abridgements and moralistic rewritings. This is in brief the history of origin of the fable. In this article I am studying briefly the fables in Sanskrit and French literature and am trying to explore their geniuses, moral, their similarities and differences.

In ancient India during the first millennium B.C. hundreds of fables were composed as framed stories. Vishnu Sharma's Panchatantra, Jatak tales, the Hitopadesh, Vikram and the Vampire, and Syntipas' Seven wise Masters were collections of fables that were influential throughout the old world. Ben E. Perry has argued that some of the Jatak tales and some of the fables in Panchatantra may have been influenced by similar Greek ones.

Earlier Indian epics such as Vyasa's Mahabharata and Valmiki's Ramayana also contained fables within the main story, often as side stories or back-story. The most famous fables from the Middle East were the One Thousand and One Nights, also known as the Arabian Nights. Panchatantra is a Sanskrit word which means "five Principles". The original Sanskrit text of "Panchatantra" was written by Pandit Vishnu Sharma around 200 B.C. and contained a collection of popular tales. The Panchatantra stories are fables based mostly on animals which always end with a moral. The Panchatantra is the oldest collection of tales surviving today. Panchatantra consists of five books of animal fables and magic tales. Each of these stories has a moral that continues to be relevant to this day. The five principles are:

1. Mitra Bhedha (The Loss of Friends)
2. Mitra laabha (Gaining Friends)
3. Suhrudbheda (Causing Dissension between Friends)
4. Vighraha (Separation)
5. Sandhi (Union)

The Panchatantra is a work known in Sanskrit as champu,

written in verse and prose. The two forms are used for different and distinctive purposes. "Verse is employed for articulation maxims. Proverbs and precepts, sententious generally, and for conveying heightened emotion, prose for the narrative and dialogue. A verse, always identical, comes at the beginning and end of a tale, thus marking some kind of separation of the tale from the rest of the narrative. It lays out the content of the tale in brief and points out the moral. Generally the prose is simple and straightforward so as not to distract from the story-interest."¹

I am giving a couple of examples. I have the following verse in prose which is the part of the lamentations of lively,

The Lion and the Bull

The jackal Dimna gaining favor with the lion (pictured as the king of all animals) and climbing the ranks rapidly, and the subsequent plot by the jackal to bring down the bull who also grew very close to the king, out of pure jealousy. The plot succeeds and the bull is murdered by the lion unjustly.

Moral: One must not accuse others falsely, and strive to preserve friendship.

Investigating Dimna

Which was later included by ibn EI-Mougafa, tells of the trial of Dimna the jackal after he is suspected of intentionally leading to the death of the bull "Shanzabeh" who is mentioned in the previous paragraph. The trial lasts for 2 days to no avail, until the tiger and the leopard come forward and accuse Dimna. He is subsequently put to rest.

Moral: Truth is bound to be revealed, sooner or later.

The Captured Pigeon

It tells of the story of the crow who upon seeing the favour the rat performed to free the pigeon and his companions, decides to befriend the rat despite the latter's initial objections. The storyline evolves as this friendship grows to include the turtle and the fawn. They collaborate to save the fawn when he is trapped, and later they work together to save the turtle, who herself, falls in the trap.

Moral: Friends are an integral part of life.

The Owl and the Crows

It deals with deceit and glorifies it to a certain extent as it deals

with the crow who pretends to be an outcast from his own group to gain entry into the rival owl group, and by doing so gains access to their secrets and learns of their vulnerabilities. He later summons his group of crows to set fire on all entrances to the cave where the owls live and suffocate them to death.

Moral: Mental strength and deceit are stronger than brute force.

The Monkey and Alghlim

It deals with the artificially-constructed symbiotic relationship between the monkey and the alghlim. Risked the relationship by conspiring to acquire the heart of the monkey to heal his wife; the monkey finds out about this and avoids this grim fate.

Moral: One just never betrays friends, and should stay vigilant at all times.

The aim of the Panchatantra is to inculcate the importance of a harmonious development of all the powers of man, to balance the needs and demands of the individual in society so that the ethical, social, material and emotional aspects of personality may be integrated and lead a life wisely and well in the truest sense of these terms. This is *niti*. To be free from fear and want is the basic need. Other values are then built on it: giving and receiving, friendship and affection, kindness and compassion for the needy and distressed, the intelligent use of learning and rightful use of intelligence, the exercise of judgment and prudence, deliberation before acting, followed by resolute action, giving the best an individual can to succeed in worthwhile enterprise. This is the wisdom conveyed by the Panchatantra, a gentle and practical wisdom.

The **Hitopadesha** is a remarkable compilation of short stories. Composed by Narayana Pandit, Hitopadesha had its origin around a thousand years ago. In Indian Literature, the Hitopadesha is regarded more or less similar to the Panchatantra. In the vein of Panchatantra, the Hitopadesha was also written in Sanskrit and following the pattern of prose and verse. Hitopadesh tales are written in reader-friendly way, which also contributed to the success of this best seller after 'Bhagawat Gita' in India. Since its origin, Hitopadesha has been translated into numerous languages to benefit the readers all over the world.

The term 'Hitopadesha' is a joint effort of two terms, 'Hita' (welfare/benefit) and 'upadesha' (advice/counsel). As the term suggests,

the Hitopadesha is a collection of tales that counsel and advice for the welfare and benefit of everyone. Imparting morals and knowledge, Hitopadesha is one amongst the most widely read Sanskrit book in India. The Hitopadesh is still very much popular children story book that actually help them to develop into responsible and nature adults. Here I am giving some popular stories as examples from Hitopadesha.

The Blind vulture is one of the most interesting stories/tales from the collection of Hitopadesh. It shows the lesson to never treat someone whom you hardly know as a friend.

In other story, washer man, Donkey, and Dog it gives the moral; it is always better to mind your own business.

One of the most widely read Sanskrit books in India, Hitopadesha tales are short stories that have the priceless treasure of morality and knowledge after Bhagavad Gita. Hitopadesh is considered to be the most sold religious text in India. The tales from Hitopadesha are written in a very logical and clear way and one does not have to make much effort to figure out what moral a particular story is implying. The stories feature animals and birds as main characters.

Jataka Tales

In 300 B.C, the Jataka Tales were written for the mankind to gain knowledge and morality. Ever since, Jataka Tales have become story books that are both enjoyable as well as knowledgeable. Originally written in Pali language, Jataka Buddhist tales have been translated in different languages around the world. The luminous fables of 'Jataka' are intended to impart values of self-sacrifice, morality, honesty and other informative values to people.

Baital Pachisi or Vetala Panchvimshati "Twenty five tales of Baital" is a collection of tales and legends, comprised in a narrative frame. It was originally written in Sanskrit.

One of its oldest recessions is found incorporated in the Katha Sarit Sagar, "Ocean of Story", a work in Sanskrit compiled in the 11th century by Somadeva, but thought to have been based on yet older materials. This recession comprises in fact twenty four tales, the frame narrative itself being the twenty fifth. The two other major recessions in Sanskrit are those by Shivadasa and Jambhaladatta.

Syntipas (the Greek form of Sindibad or Sendabar) was an

Indian philosopher and writer supposed to have lived around 100 BC, and the reputed author of a collection of tales known generally in Europe as The Story of the Seven Wise Masters.

Just like Sanskrit Literature French Literature is equally rich in fables. Starting from Middle ages it finds its culmination in the tales of Rabelais's "Life and Adventures of Gargantua and Pantagruel" written in 16th Century, "Fables" written by La Fontaine in XVIIth century and Voltaire's "Candide" and "Zadig" in XVIIth century. Characters of Rabelais's works are giants and men whose main aim is to make laugh and teach the readers at the same time. La Fontaine's status is different. He is such a great fabulist that all the others writers are eclipsed under his penumbra. The characters of his fables are mostly animals and birds endowed with speech and qualities characteristic of man. The ass is stupid; the fox cunning, the lamb innocent, ant laborious and egoist etc. The animals and birds are symbolic representations of human beings. His fables are not concerned with abstract truths but provide wisdom in practical life: "Even the mightiest may need the help of the lowliest."²

La Fontaine, 162-95, French poet, whose celebrated fables place him among the masters of world literature. La Fontaine's masterpiece is the collection of Fables choisies, mises en vers [selected fables versified] (1668-94), comprising 12 books of some 230 fables drawn largely from Aesop. Each fable is a short tale of beasts behaving like men; each serves as a comment on human behavior. Although their charm and simplicity have made them popular with children, many are sophisticated satires and serious commentaries on French society.

"It is twice the pleasure to deceive the deceiver."

"The fastidious are unfortunate; nothing satisfies them."

"Nothing is more dangerous than a friend without discretion."

"Every flatterer lives at the expense of him who listens to him."

"Rare is true love, true friendship is rarer."

La Fontaine borrowed the ideas and inspirations from Sanskrit literature like (Panchatantra) and then made the stories his own. Some of his first fables are:

The Grasshopper and the ant

An age-old tale of one who whiles away the summer moths

and now faces winter with no food. She inquires of an ant for food and is told to dance for her bread.

The Hen with the Golden Egg

This is story about greed and its ultimate end; the meanest of men owned the hen who would lay one golden egg per day. Not satisfied he kills the hen to get all that are inside, he finds nothing and sadly, the hen can lay no more eggs at all.

The Tortoise and the Hare

A tried and true fable of the arrogant hare and the diligent tortoise.

The Fables of La Fontaine, some stories of Grimm, and the Brier Rabbit stories are current every where. However, if we are to pick the two works that display an unmistakable and notable influence of the Panchatantra, they would be The Arabian Nights and La Fontaine. La Fontaine acknowledges his debt to our text when he expressly states in his preface to the second edition of The Fables (1678), that the greater part of the new material was "derived from the Indian sage Pilpay", whose work is regarded as earlier than Aesop's".³

In this article I have shown that the fables of these two countries are quite similar in themes and aims. Each fable of Vishnu Sharma or La Fontaine is a miniature human drama. There is a delightful, meaningful mingling of two worlds- the human and the animal. The language is simple, direct and free from rhetorical flourish. If Indian culture prevails in Panchatantra, and French culture in "Les Fables", it is minor and could be ignored as the human qualities like greed, anger, selfishness, hatred, flattery etc. are universal and common to both literatures.

References:

1. "The Panchatantra, translated from Sanskrit with an introduction of Chandra Rajan, Penguin Books, 1993, p. liii.
2. Les grandes étapes de la littérature française, Poona University Press, Poona, p.59. (Translated from French to English).
3. "The Panchatantra, translated from Sanskrit with an introduction by Chandra Rajan, Penguin Books, 1993, p. XX.

DILEMMA OF IDEAL AND OPERATIONAL UNIVERSITY AUTONOMY

Dr. Namita Sinha

Associate Professor, B. Ed. Department, Arya Mahila P.G. College, Varanasi

University autonomy in its absolute sense seems to an ideal, which to many look like a utopian concept. Its operability certainly diminishes the degree because no ideal can be practiced absolutely rather it may be observed ideally. In early years of the emergence of great universities like Bologna, Oxford and Cambridge, autonomy was observed in its ideal form but later on the dominance of State over universities lessened the ideality of the concept. Within the system of universities hierarchy of authorities deterred to the cause of autonomy.

Here some criticism are being presented so as to make it clear as to what extent autonomy has been observed among the universities with special reference to Indian context. Amrik Singh (1984) has presented the practical model of autonomy and asserted that university autonomy is a term which is bandied about a great deal. The word "university has only to be mentioned and within a matter of minutes somebody or the other would refer to the concept of university autonomy. In a large number of cases the implication is that most problems in respect of universities arise from the fact that they are not autonomous. It is also assumed that were universities to be guaranteed autonomy most problems would be taken care of, or something to that effect... Through out the Western world, hardly any university today enjoys the kind of autonomy that universities enjoyed, say, in the nineteenth century. That is because the context has changed. He further observes that in the Indian situation, the issue should not be 'State Control' versus 'University Autonomy'. Instead, it should be 'Autonomy versus Accountability'. This is not to suggest that Indian Universities are not menaced by State Intervention. That they are, as would be presently explained. But even if the universities were to become really and truly autonomous, this would be no guarantee of the universities functioning satisfactorily.

On the conceptual plane, there is general agreement on the proposition that universities are statutory bodies created by the state, and are expected to function in terms of the structure given to them and the power vested in the various constituent bodies. Upto this point there is hardly any difference of approach. What happens in actual practice however is very different.

For one thing, in quite a few universities, the official element is given considerable. A large number of officeals are nominated to various university bodies and they represent the official point of view. In certain cases legislators are put on the executive bodies of universities and in a manner of speaking, they too, represent the government. But this is only a minor part and indeed the visible part of what happens. For another thing, and this is much more relevant to the issue under discussion, the real drama is what happens behind the scenes. University bosses are told to do certain things and not to do certain things. There are instances where this kind of backstage manipulation or arm-twisting is resented as well as resisted. But such an attitude cannot prove to be very durable in the very nature of things. Anyone who refuses to carry out the wishes of the powers that be is sooner or later put in his place. He either quits or is made to quit. This is because the powers that be are in a position to decide who shall be chief executive of the university.

Amrik Singh (1984) rightly remarks that for the greater part, the universities are autonomous in formal terms. It is in respect of their day-do-day functioning that their autonomy is violated. It is accepted by all that universities should be autonomous, even by those who in fact violate it. While undermining the universities from behind the scenes they never for a moment would either defend their position or argue in favour of taking away the autonomy of the university. In theory, therefore, they would agree with those who stand for university autonomy. What they do in actual practice is another thing. In other words it is their deeds rather than their words which are the source of the damage being done to the university system.

Srinivas (1989) has also reacted against the role of government and commented that in the present set up, the government and the university are the two governing bodies of higher education. The Government plays a dominant role in controlling the finances, in the ap-

pointment of the Vice-Chancellor and in exercising influence through its nominees and ex-officio members in various bodies of universities. The Directors of Collegiate Education as the government representative in a university often assumes the powers of the university in granting affiliation to new courses or colleges. There is utter lack of coordination between the university and the government. The government always adopts a big-brother attitude in its dealings with universities. This may even be construed as national assertion by government of its authority over universities and its financial commitment towards them. Chaturvedi's (1991) observation validates the assumption that universities in their beginning were more autonomous when he says that autonomy in higher education is often conceived to have two aspects viz., internal and external.. In the modern world external autonomy in the sense in which it was enjoyed by the universities of Oxford and Cambridge in the early days of their growth or something analogous to it, is unthinkable.

Sulochana's (1990) pertinent comment that Vice-Chancellors appointed by the Government (s) cannot commit to autonomy, seems relevant. She says, that university autonomy would mean and include freedom to select students and teachers and decide courses, curricula, research etc. But if the top-most executive of the universities himself (Vice-Chancellor) is not a free man, the achievement of the abiding quest for university autonomy is doubtful. There can be no autonomy if the appointment of the Vice-Chancellors is done by the state governments and the functioning of the university bodies is chained to the government's control.

Verma (1990) refers to reality of the campuses and feels that the problems of autonomy is to be described in connection with the balancing of contradictory goals of the various university publics. While government intends to capitalize investment in the university system for serving its political. Purposes, teachers and employees seek Adequate financial compensation and satisfaction of other personal goals. Society expects new inventions techniques and additions to existing knowledge in different fields of study. Students seek more knowledge at low expenditure. Politicians perceive universities as very suitable entry points for propogating their ideologies under such situations, university managers have very tight ropewals.

Positive functions of autonomy have been advocated by Bajaj (1991). He appreciates autonomy and apprehends its enemies as he writes that in practice autonomy is understood to mean 'self-governance' or functional freedom without any outside interference and checks. This is a concept which is dearly espoused and closely guarded by teachers and administrators alike with the argument that this alone can ensure the healthy growth and consolidation of their system and that any attempt to discuss it even in the prevailing situation is unnecessary and may dilute its implications and limit its scope. There is no doubt that a certain measure of freedom is required in a democratic set up to ensure the pursuit of higher learning and for the maintenance of academic standards within the framework of societal objectives. Ideal self governance promotes that free and full exercise of intellectual and academic pursuits whereas outside political or bureaucratic interference or checks may impede the efforts which otherwise get encouraged in the course of the exercise of the autonomy. Our university system which owes its lineage to the British Pattern of university, leans heavily on the ideals which maintain highest standards of academic growth guaranteed through autonomy.

Srinivasa (1989) further criticizes the impediments by the Government in the realization of autonomy and elaborates that the tendency of representative of the government to impose in all respects the prevailing sentiments of the public majority is as natural and fundamental as the need of the university to resist that tendency directed against itself. Excessive domination on the part of the government seldom results from malevolent will that is ruthlessly enforced. It is, therefore, very necessary that the university administrators should be alert on this issue at all times and maintain the university autonomy against all external and internal threats to the essential independence of the university community. Those who govern must also preserve the academic freedom of the university. The most obvious modern threat to this academic freedom is the modern move to politicize the university and in a politicized university, academic freedom becomes a travesty.

Affiliating universities, though they frame syllabi lay down qualifications for teachers, fix norms of attendance for students, appoint examiners and question paper setters and send their representative to be in the governing councils of colleges, cannot exert control over private

managements. Private colleges are governed by religious trusts, trust representing castes, community, businessmen and landlords and the teacher is placed at the mercy of employers whose policies are governed by vested interests, parochialism and nepotism. If the university dares to issue directives the private management promptly ignore them.

Above all it is worth concluding that ideal autonomy is distorted more by the external forces like Government (s) and its apex bodies and less by the internal forces like Senate, Syndicate, Vice-Chancellor, Executive Council and other bodies of the universities. However, 'Idealhood' of university autonomy may be maintained to the level that academic interference is minimized. It is possible only when autonomy embedded with accountability is popularized among the legislators also.

REFERENCES :-

1. Chaturvedi, R.N. ; "The Administration of Higher Education in India" Printwell Publishers, Jaipur, 1989.
2. Narayanaswami Srinivas ; "Democratizing the Governance of Universities and colleges" in University News oct. 23, 1989.
3. Singh Amrik, "Asking for trouble What it Means to be a Vice Chancellor Today," Vikas publishing house Pvt.Ltd., 1984.
4. Sulochana, M., 'True Spirit of Autonomy' in University News, October 8, 1990.
5. Verma, Yogendra, S., "University Management and Administration", "Deep & Deep publications, New Delhi 1990.

THE NATURE OF RELIGION AND ITS IMPACT ON HUMAN BEINGS

Km. Arti Srivastava

*Associate Professor, B. Ed. Department, Arya Mahila P.G.
College, Varanasi*

Religion has, no doubt, established God in our life. We are awakened to God by our parents with whom we have gone to temples, churches and mosques. No ancient saint has established any religion. It is the followers, who later transformed his teachings into religion. Gradually the message and the teachings of the saint were forgotten by us and we engaged ourselves in the ritualistic aspect of the religion such as Vrata, upwas, methods of worship, religious performances at the time of birth and death and methods of marriage ceremonies. Had we concentrated more on the teachings of the saints we would have better contributed to the welfare of humanity. We have not ignored their teachings totally. Religion has played an important role for the welfare of humanity.

The English translation of the word Dharma is derived from the Greek word 'religare' which means to bind together. It is a deliberate process of binding together. Religion in this sense will be binding force which will deepen the solidarity of human society. The encounter of the different religions has brought up the question whether they could live side by side or whether one of them would supersede the others. All great religions preach respect for other ways of life, whatever their practices may be. The Quran asks us "not to revile those whom others worship besides Allah lest they, out of spite, revile Allah in their ignorance". In China when the followers of Confucianism, Taoism and Buddhism meet and exalt their own religion, they conclude that religions are many but reason is one and all human beings are brothers. If the world is to be united on a religious basis, it will not unite on the basis of this or that religion but by a co-operation among the different religions of the world. The tradition of opposition to one another should yield to co-operation.'

The need for religion, for a system of thought, for devotion to a cause which will give our fragile and fugitive existence significance and value does not require much elaborate argument. It is intrinsic element of human nature. The question is, what kind of religion? Is it a religion of love and brotherhood or of power and hate? Secular ideologies ask us to worship wealth and comfort, class or nation. The question is therefore not, religion or no religion, but what kind of religion? Religions which are insensitive to human ills and social crimes do not appeal to the modern man. Religions which make for division, discord and disintegration and do not foster unity, understanding and coherence play into the hands of the opponents of religion. Religion is fulfillment of man's life, an experience in which every aspect of his being is raised to its highest extent. What is needed is a change of consciousness, a reborness, an inner evolution, a change in understanding.

Religion reflects both God and man. As religion is a life to be lived, not a theory to be accepted or a belief to be adhered to, it allows scope and validity to varied approaches to the Divine. There may be different revelations of the Divine but they are all forms of the supreme. The Upanishads are clear that the flame is the same even though the types of fuel used may vary. Though cows are of many colours, their milk is of one colour, the truth is one like the milk while the forms used are many like the cows :

**"Gavām aneka varnānām kṣīrasyāsty eka varṇatā
kṣīravat paśyate j nānaṃ linginas tu gavām yathā"**

Again the Bhagvat says even as the several senses discerns the different qualities of one object, so also the different scriptures indicate the many aspects of the one Supreme.

**"Yathendriyaiḥ pṛthag dvāraiḥ artho bahu-guṇāśrayaḥ
eko nanā īyate tadvat bhagavān śāstra-var tmahhiḥ"**

Gandhiji said : "I hold that it is the duty of every cultured man or women to read sympathetically the scriptures of the world. A friendly study of the world's religions is a sacred duty" We must have the richness of the various traditions. We are the heir of the heritage of the whole humanity and not merely of our nation or religion. We are obliged to look at our religions in the light of other faiths. The essence of religion consists in a feeling of absolute dependence. It is the feeling of

dependence that binds the human beings together. Teachings of all religious saints discourage any conflict in the name of religion for any reason whatsoever and they believe that the purpose of true religion should be to unite all hearts.

Some thinkers in India feel that the English translation of the word 'Dharma' is inadequate and incorrect. The word 'Dharma' derives from धृ धातु that means to uphold, to nourish and to provide shelter. In the Manusmriti the word Dharma has been used in its broad sense –

धरति धारयति वा विश्वमिति धर्मः ।

That, which upholds the world, is religion

Describing the force of religion the Brihadaranyakopnishad reflects -

धर्मात्परं नास्यत्यथो अबलीयान्बलीयौ समाशौ सते धर्मेण यथा राज्ञैव यो वयं स धर्मः.....

Just as one gains power to defeat a strong enemy with the help of a king in the same way a weak person aspires to overcome a strong one by the force of religion.

Justice K Ramaswamy of Supreme Court of India after referring to a plethora of literature on the meaning of Dharma stated :-

"The world Dharma denotes upholding, supporting, nourishing that which upholds nourishes or supports the stability of the society, maintains social order and general well being and progress of mankind; whatever conduces to the fulfillment of these objects is Dharma. Dharma is that which approves to oneself or good consciousness or springs from due deliberation for one's own happiness and also for welfare of all beings free from fear, desire, disease, cherishing good feelings and sense of brotherhood"

The Vedas including Upnishadas (shruti) were the primordial source of 'Dharma' a compendious term for all human rights and duties the observance of which was regarded as essential for securing peace and happiness to individuals as well as society. Therefore just as we extract highly valuable 'gold' from the ore, it is necessary to extract the rules of 'Dharma' comprising all human rights and duties which are of eternal value, the observance of which alone can secure happiness to all.

Essential unity of the world's religions has shown to the world that all religions say the same thing as far as duty is concerned. Undoubtedly Dharma is synonymous to duty. It is the religion of each

thing to fulfill the purpose for which it has been created by God. The religion of fire is to give heat and to cook and the religion of water is to purify by providing drinking water. In the same way human religion is firstly, to determine how the journey of life of all those who have been created by God may go on smoothly and secondly, to follow the religion incorporated in the Vedas and scriptures for the welfare of one's own self and also for the welfare of masses.

All religions aim to bring about individual and social transformation. The vision of a united peaceful world reflects an understanding that humanity is fast approaching its maturity and moving in the direction of creating a global society founded on justice and expressing trust, collaboration and compassion. Experience shows that the members of this global society are people from all religious and national backgrounds living in harmony and peace. We believe in the principles of oneness of mankind, oneness of God and oneness of religion. The only force behind this harmony is religion.

Principles of religion teach conformity with socially accepted norms of goodness or rightness in conduct or character. The moral and social values inherent in all religions play an important part in promoting human welfare. The highest ideal of human life since the Vedic times is incorporated in a short but meaningful manner in the most popular prayer.

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्व-भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्यवेत् ॥

Historically, the function of enunciating moral values and ensuring relative conformity to them has been performed by religion. Religions have sought to do this in two ways : first by defining the ultimate goal of human life and spelling out the path of righteousness by which this end could be achieved, and secondly, by spelling out the dire consequences of not following the path of virtue or righteousness.

It may be said, the religion alone can help and strengthen the humanity if faith in it transcends all barriers. If there is ever to be a universal religion it must be one which will be infinite, like God it will preach, whose sun will shine upon the followers of Krishna and of Christ, on saints and sinners alike, which will not be Brahmanic or Buddhist, Christian or Mohammedan but the sum total of all these and still have infinite space for development. It will be a religion which

will recognize divinity in every man and women and whose whole scope and force will be centred in aiding humanity to realize its own true divine nature.

The intensest love that humanity has ever known has come from religion. The noblest words of peace that the world has ever heard have come from men of the religious plane. Therefore realization and observance of religion for human welfare is essential.

References :

1. *Brihadaranyakopnishad*, Chap 1, Mantra 14.
2. *Gore, M.S. Indian Education, Structure and Process*", Rawat Publications, Jaipur, 1974, Chap. 6. P. 88.
3. NCTE Manograph Series '*Human Rights and Indian values* ; Printed at Nagri Printers, Naveen Shahadara, Delhi. 1998. P.1-2.
4. Radhakrishnan, S. I "*Essayas on Religion, Science and Culture*" Orient Paperbacks, Delhi 2005, P. 17
5. *Ibid*, P. 18
6. *Ibid*, P.24

WOMEN CHASING WITH MEN

Dr. Uma Shanker Yadav

Part-time Lecturer, Deptt. of Commerce,

Arya Mahila P.G. College, Varanasi

Introduction

Women Entrepreneurs may be defined as the women or a group of women who initiate, organize and operate a business enterprise. Government of India has defined women entrepreneurs as an enterprise owned and controlled by a women having a minimum financial interest of 51% of the capital and giving at least 51% of employment generated in the enterprise to women. Like a male entrepreneurs a women entrepreneur has many functions. They should explore the prospects of starting new enterprise; undertake risks, introduction of new innovations, coordination administration and control of business and providing effective leadership in all aspects of business.

Problems of Women Entrepreneurs in India

Women in India are faced many problems to get ahead their life in business. A few problems can be detailed as;

1. The greatest deterrent to women entrepreneurs is that they are women. A kind of patriarchal - male dominant social order is the building block to them in their way towards business success. Male members think it a big risk financing the ventures run by women.
2. The financial institutions are skeptical about the entrepreneurial abilities of women. The bankers consider women loonies as higher risk than men loonies. The bankers put unrealistic and unreasonable securities to get loan to women entrepreneurs. According to a report by the United Nations Industrial Development Organization (UNIDO), "despite evidence that women's loan repayment rates are higher than men's, women still face more difficulties in obtaining credit," often due to discriminatory attitudes of banks and informal lending groups (UNIDO, 1995b).
3. Entrepreneurs usually require financial assistance of some kind to launch their ventures - be it a formal bank loan or money from a savings account. Women in developing nations have little access to funds, due

to the fact that they are concentrated in poor rural communities with few opportunities to borrow money (Starcher, 1996; UNIDO, 1995a). The women entrepreneurs are suffering from inadequate financial resources and working capital. The women entrepreneurs lack access to external funds due to their inability to provide tangible security. Very few women have the tangible property in hand.

4. Women's family obligations also bar them from becoming successful entrepreneurs in both developed and developing nations. "Having primary responsibility for children, home and older dependent family members, few women can devote all their time and energies to their business" (Starcher, 1996, p. 8). The financial institutions discourage women entrepreneurs on the belief that they can at any time leave their business and become housewives again. The result is that they are forced to rely on their own savings, and loan from relatives and family friends.

5. Indian women give more emphasis to family ties and relationships. Married women have to make a fine balance between business and home. More over the business success is depends on the support the family members extended to women in the business process and management. The interest of the family members is a determinant factor in the realization of women folk business aspirations.

6. Another argument is that women entrepreneurs have low-level management skills. They have to depend on office staffs and intermediaries, to get things done, especially, the marketing and sales side of business. Here there is more probability for business fallacies like the intermediaries take major part of the surplus or profit. Marketing means mobility and confidence in dealing with the external world, both of which women have been discouraged from developing by social conditioning. Even when they are otherwise in control of an enterprise, they often depend on males of the family in this area.

7. The male - female competition is another factor, which develop hurdles to women entrepreneurs in the business management process. Despite the fact that women entrepreneurs are good in keeping their service prompt and delivery in time, due to lack of organisational skills compared to male entrepreneurs women have to face constraints from competition. The confidence to travel across day and night and even different regions and states are less found in women compared to male entrepreneurs. This shows the low level freedom of expression and free-

dom of mobility of the women entrepreneurs.

8. Knowledge of alternative source of raw materials availability and high negotiation skills are the basic requirement to run a business. Getting the raw materials from different source with discount prices is the factor that determines the profit margin. Lack of knowledge of availability of the raw materials and low-level negotiation and bargaining skills are the factors, which affect women entrepreneur's business adventures.

9. Knowledge of latest technological changes, know how, and education level of the person are significant factor that affect business. The literacy rate of women in India is found at low level compared to male population. Many women in developing nations lack the education needed to spur successful entrepreneurship. They are ignorant of new technologies or unskilled in their use, and often unable to do research and gain the necessary training (UNIDO, 1995b, p.1). Although great advances are being made in technology, many women's illiteracy, structural difficulties, and lack of access to technical training prevent the technology from being beneficial or even available to females ("Women Entrepreneurs in Poorest Countries," 2001). According to The Economist, this lack of knowledge and the continuing treatment of women as second-class citizens keeps them in a pervasive cycle of poverty ("The Female Poverty Trap," 2001). The studies indicates that uneducated women donot have the knowledge of measurement and basic accounting.

10. Low-level risk taking attitude is another factor affecting women folk decision to get into business. Low-level education provides low-level self-confidence and self-reliance to the women folk to engage in business, which is continuous risk taking and strategic cession making profession. Investing money, maintaining the operations and ploughing back money for surplus generation requires high risk taking attitude, courage and confidence. Though the risk tolerance ability of the women folk in day-to-day life is high compared to male members, while in business it is found opposite to that.

11. Achievement motivation of the women folk found less compared to male members. The low level of education and confidence leads to low level achievement and advancement motivation among women folk to engage in business operations and running a business concern.

12. Finally high production cost of some business operations adversely affects the development of women entrepreneurs. The installation of new machineries during expansion of the productive capacity and like similar factors dissuades the women entrepreneurs from venturing into new areas.

How to Develop Women Entrepreneurs?

Right efforts on from all areas are required in the development of women entrepreneurs and their greater participation in the entrepreneurial activities. Following efforts can be taken into account for effective development of women entrepreneurs.

1. Consider women as specific target group for all developmental programmes.
2. Better educational facilities and schemes should be extended to women folk from government part.
3. Adequate training programme on management skills to be provided to women community.
4. Encourage women's participation in decision-making.
6. Skill development to be done in women's polytechnics and industrial training institutes. Skills are put to work in training-cum-production workshops.
7. Training on professional competence and leadership skill to be extended to women entrepreneurs.
9. Counselling through the aid of committed NGOs, psychologists, managerial experts and technical personnel should be provided to existing and emerging women entrepreneurs.
10. Continuous monitoring and improvement of training programmes.
11. Activities in which women are trained should focus on their marketability and profitability.
12. Making provision of marketing and sales assistance from government part.
13. To encourage more passive women entrepreneurs the Women training programme should be organised that taught to recognize her own psychological needs and express them.
14. State finance corporations and financing institutions should permit

by statute to extend purely trade related finance to women entrepreneurs.

15. Women's development corporations have to gain access to open-ended financing.

16. The financial institutions should provide more working capital assistance both for small scale venture and large scale ventures.

17. Making provision of micro credit system and enterprise credit system to the women entrepreneurs at local level.

18. Infrastructure, in the form of industrial plots and sheds, to set up industries is to be provided by state run agencies.

19. A Women Entrepreneur's Guidance Cell set up to handle the various problems of women entrepreneurs all over the state.

20. Programmes for encouraging entrepreneurship among women are to be extended at local level.

21. Training in entrepreneurial attitudes should start at the high school level through well-designed courses, which build confidence through behavioral games.

22. More governmental schemes to motivate women entrepreneurs to engage in small scale and large-scale business ventures.

26. Involvement of Non Governmental Organisations in women entrepreneurial training programmes and counselling.

Conclusion

Independence brought promise of equality of opportunity in all sphere to the Indian women and laws guaranteeing for their equal rights of participation in political process and equal opportunities and rights in education and employment were enacted. But unfortunately, the government sponsored development activities have benefited only a small section of women. The large majority of them are still unaffected by change and development activities have benefited only a small section of women i.e. the urban middle class women. The large majority of them are still unaffected by change and development. The reasons are well sighted in the discussion part of this article. It is hoped that the suggestions forwarded in the article will help the entrepreneurs in particular and policy-planners in general to look into this problem and develop better schemes, developmental programmes and opportunities to the women folk to enter into more entrepreneurial ventures. This article

here tries to recollect some of the successful women entrepreneurs like Ekta Kapoor, Creative Director, Balaji Telefilms, Kiran Mazumdar Shaw, CEO, Biocon, Shahnaz Husain and Vimalben M Pawale, Ex President, Sri Mahila Griha Udyog Lijjat Papad (SMGULP).

References

Starcher, D. C. (1996). Women entrepreneurs: Catalysts for transformation. Retrieved July 6, 2001: [http:// www.ebbf.org/woman.htm10](http://www.ebbf.org/woman.htm10) (c2001269511)

Women entrepreneurs in poorest countries face formidable challenges, including lack of training, credit, say speakers at Brussels forum" [Press release]. (2001, May 21). Retrieved July 6, 2001: <http://www.un.org/News/Press/docs/2001/dev2331.doc.html19>

<http://www.celcee.edu/>

PSYCHOSOMATIC DISORDERS AND PSYCHOSOCIAL FACTORS A REVIEW

Dr. Krishna Kumari Verma

Senior Assistant Professor, Arya Mahila Postgraduate College, Chetganj, Varanasi

Till very recent time, it was basically the medical science. Which was concerned with physical diseases, whereas psychiatry dealt with mental diseases. and both were thought to result from organic causes. But gradually attention was directed towards uncovering the emotional factors underlying these diseases. It was realised that although a disease may be primarily physical or primarily mental, it is always a disorder of a person, as a whole, as stated by SEGUIN(1950). This new holistic approach to medicine, to study the man as a whole for the purpose of diagnosis, prognosis and treatment, which was based on relevant biological, psychological and sociological data, was called as "psychosomatic approach"

Psychosocial Factor: (External Factors)

Dust pollution, Noise Pollution, Industrial Pollution, Smoke Pollution Traffic Jam, Transportation etc.

Internal Factors :

Child rearing process, parental deprivation, familial factors, social factor, cultural factors, friends, schooling, large Loan, birth or Marriage of daughter, death of spouse, parental conflicts etc.

The term "psychosomatic" is derived from Greek words "psyche" and "soma". Psyche in ancient times meant "soul" and "mind" and more recently has come to mean behaviour. Soma typically refers to the physical organism "the body". The term psychosomatic, therefore, indicates relationship between psychological processes or behaviour on the one hand and somatic structures on the other. Psychological processes include frustrating circumstances and internal behaviour resulting from there.

Emotional behaviour or a living organism may produce durable structural changes in that organism. The physiological arousal produced

by emotional stimulation may, for example, facilitate increased quantity and concentration of acid secretion in the stomach, leading to the development of 'Ulcers' in the digestive tract. It may involve increased blood pressure and cardiac activity, and if such activity is sufficiently intense and persistent, it may produce 'coronary damage'. It may also result in rupture of blood vessels in the uterus; in damage to colon; or in certain kinds of enlargement of the thyroid gland. It consists of three stages:

1: The Alarm Reaction Stage

The adrenal cortex, as a consequence of excitation, via a hormone liberated by the pituitary gland, the adrenocorticotrophic hormone (ACTH)-becomes hyperactive, over producing hormones that help the body to cope with the effects of stressors.

2. The Resistance Stage

During this period the biological changes generated against the specific stressor in the particular situation.

3. The Exhaustion Stage

Under conditions of prolonged exposure to the stressor, resistance cannot be maintained and body resources are depleted; if the stressor is maintained for sufficient time.

Some Psychosomatic Disorders :

- 1: (Psychophysiological skin disorders)- neurodermatitis, atopic dermatitis, eczema and some cases of acne and hives.
- 2: (Psychophysiological musculoskeletal disorders)- backaches, muscle cramps, tension headaches and some cases of arthritis.
- 3: (Psychophysiological respiratory disorders)- bronchial asthma, hyperventilation syndromes high coughs and recurring bronchitis.
- 4: (Psychophysiological cardiovascular disorders)- e- hypertension, paroxysmal tachycardia, vascular spasms, heart attacks and migraine headaches.
- 5: (Psychophysiological hemic and lymphatic disorders)--disturbances in the blood and lymphatic system.
- 6: (Psychophysiological gastrointestinal disorders)- peptic ulcers, chronic gastritis and mucous colitis.
- 7: (Psychophysiological genitourinary disorders)- Disturbances in menstruation and urination.
- 8: (Psychophysiological endocrine disorders)- hyperthyroidism,

obesity and other endocrine disorders in which emotional factors play a causative role.

9: (Psychophysiological disorders of organs of special sense)--chronic conjunctivitis. (Conversion reactions are excluded).

10: (Psychophysiological disorders of other types)- disturbances in the nervous system in which emotional factors play a significant role, such as multiple sclerosis.

(Abnormal Psychology and Modern Life: COLEMAN (1976))

11: Psychosocial factors have little role in the immune breakdown leading to death as in AIDS. Several recent studies prove that psychosocial factors play an important role in damaging body resistance while blood corpuscles are responsible for immune system of the body. Psychological depression suppress the formation of W.B.C., thus reducing the immunity body to the diseases.

The writing of Dunbar, Alexander and Grinker in recent decades, efficiently extended thinking about emotional behaviour into the realm of psychosomatic disorders.

1. Constitutional or Biological or Genetic Vulnerability Theories :

Grinker subscribed to the view that biological vulnerability of an organ is a function of its earlier physiological involvement in reactions to stress. Most vulnerable organ becomes malfunctional or is damaged in response to stressful stimulation.

2. Emotional Reaction Pattern Theories :

Emotional reaction pattern theories hold that different patterns of physiological reactions in emotion, engender malfunction or damage in different organ structure (CANNON 1929, KISSEN 1963-69).

3. Personality Profile Theories :

Particular sets of personality characteristics as temperaments, attitudes, habits, reaction of tendencies and other components of personality have major roles in influencing the development of particular psychosomatic disorder (DUNBAR 1935-43, FRIEDMAN 1975).

4. Autonomic Learning Theories :

It emphasizes the role of learning in the development of psychosomatic aberrations without minimizing the role of genetic factors or of nongenetic predisposing factors (LACHMAN, SHELDON 1963).

5. Classical Conditioning :

Individual with various psychosomata disorders frequently report the onset of their symptoms on association with specific external stimuli, which suggested that the symptoms are products of conditioning (COMPBELL, et al, 1964).

6. Operant Learning :

Miller and his colleagues (1969) using rewards such as direct pleasurable stimulation of the brain avoidance or escape from electric shock and water for thirsty animals have operantly conditioned salivation, heartbeat, intestinal contractions etc.

7. Social Learning in the Family and Environment :

The family is a likely setting in which social learning experience may contribute to the development of psychosomata disorders (GARNER and WENDAR, 1959).

Conclusion

What structure ultimately becomes involved in a psychosomatic disorder, depends on the biological condition of the structure (whether determined by innate or environmental factors), on the initial reactivity threshold of organ, and on such learning factors, personality profile factors, stress factors, psychoanalytic theory factors, emotional factors, symptom symbol factors. Psychosomatic phenomenon are regulated by the Autonomic Nervous System.

References

1. Alexander, F. (1950) :
Psychosomatic medicine, New York, Worton and Company Inc.
2. Cannon, W.B. (1953) :
Bodily changes in pain, Hunger, Fear and Rage. Boston: Charles T. Bradford (Ed.).
3. Colman, J.C. (1976) :
Abnormal Psychology and Modern Life. University California at Los., Angeles. Fth Ed., Scott Foresman and Company, Abington, England.
4. Dunbar, F. (1954) : Emotions and Bodily Changes- 1st Ed.), New York, Columbia University.
5. Friedman, H.S. and Broth, K.S. (1987) :
The disease prone personality. A metanalytic view of the const-

- ruct. American Psychologists, Vol. 42(6), 539-555.
6. Grinker, R.R. (1956) :
Psychosomatic approach to anxiety. American JI. of Psychiatry, Vol. 113, 443-447.
7. Lachman, S.J. (1972) :
Psychosomatic disorders. A Behaviouristic Interpretation.
New York, Wiley.
8. Seguin, C.A. (1950) :
Introduction to Psychosomatic Medicine. New York, International University Press .

FOREIGN DIRECT INVESTMENT (F.D.I.) IN INDIAN RETAILING

Dr. Vibba Singb

*Assistant Professor, Deptt. Of Commerce, Arya Mahila P.G.
College, Chetganj, Varanasi(B.H.U.)*

Retailing is the interface between the producer and the individual consumer buying for personal consumption. This excludes direct interface between the manufacturer and institutional buyers such as the government and other bulk retailer is one who stocks the producer's goods and is involved in the act of selling it to the individual consumer, at a margin of profit. As such, retailing is the last link that connects the individual consumer with the manufacturing and distribution chain.

The retail industry is divided into organized and unorganized sectors. Organized retailing refers to trading activities undertaken by licensed retailers, that is, those who are registered for sales tax, income tax, etc. These include the corporate-backed hypermarkets and retail chains, and also the privately owned large retail businesses. Unorganized retailing, on the other hand, refers to the traditional formats of low-cost retailing, for example, the local kirana shops, owner manned general stores, paan/beedi shops, convenience stores, hand cart and pavement vendors, etc.

Unorganized retailing is by far the prevalent form of trade in India -constituting 98% of total trade, while organized trade accounts only for the remaining 2%. Estimates vary widely about the true size of the retail business in India. AT Kearney estimated it to be Rs. 4,00,000 crores and poised to double in 2005.² On the other hand, if one used the Government's figures the retail trade in 2002-03 amounted to Rs. 3,82,000 crores. One thing all consultants are agreed upon is that the total size of the corporate owned retail business was Rs. 15,000 crores in 1999 and poised to grow to Rs.35,000 crores by 2005 and keep growing at a rate of 40% per annum.³ In a recent presentation, FICCI has estimated the total retail business to be Rs.11,00,000 crores or 44% of GDP⁴. According to this report dated Nov. 2003, sales now account for 44% of the total GDP and food sales account for 63% of the total retail sales,

increasing to Rs.100 billion from just Rs. 38.1 billion in 1996. Food retail trade is a very large segment of the total economic activity of our country and due to its vast employment potential, it deserves very special focused attention. Efficiency enhancements and increase in the food retail sales activity would have a cascading effect on employment and economic activity in the rural areas for the marginalized workers. Thus even without FDI driving it, the corporate owned sector is expanding at a furious rate. The question then that arises is that since there is obviously no dearth of indigenous capital, what is the need for FDI? It is not that retailing in India is in the need of any technology special to foreign chains.

The Indian Scenario:-

The retail industry in India is of late often being hailed as one of the sunrise sectors in the economy. AT Kearney the well-known international management consultancy, recently identified India as the 'second most attractive retail destination' globally from among thirty emergent markets. It has made India the cause of a good deal of excitement and the cynosure of many foreign eyes. With a contribution of 14% to the national GDP and employing 7% of the total workforce (only agriculture employs more) in the country, the retail industry is definitely one of the pillars of the Indian economy.

Trade or retailing is the single largest component of the services sector in terms of contribution to GDP. Its massive share of 14% is double the figure of the next largest broad economic activity in the sector.

India is a nation of shopkeepers with innovative competencies to delight customers. The evolutionary process has been quite exciting for modern retailers, who have to reexamine the traditional way of retailing constantly upgrade process and practices and develop them in order to increase their market share. With this there have been crucial lessons to learn. As retail organization respond to such experience, they also sull and share best practices that are worth replicating. Standing on the threshold of a retail revolution and witnessing a fast changing retail landscapes. India is all set to experience the phenomenon of global village. India tops A.T. Kearney's unit of emerging market for global retailers. Retail has captured the imagination of the nation. Retailing can be both in organized and unorganized manner. Organized retailing,

which aims at providing an ideal shopping experience for the consumer based on the advantage of large scale purchase, consumer preference analysis, excellent ambience and choice of merchandise, has been adopted in a large number of India cities with many business house investing in this segment. The retail industry in majority of developed countries is organized whereas in India, it remains unorganized.

The spread of organized and unorganized retail sector among different countries. In U.S.A. and Taiwan the share of organized retail sector is between 80 to 85 percent whereas in India, it is only 2 percent. According to the study undertaken the Association Chamber of Commerce industries of India (ASOCHAM) The organized retail sector is expected to grow at 6% by 2010 and touch a retail business of \$17 billion as against its current growth level of 3% which at present is estimated to be \$6 billion. The organized retail position is weak, because retailing in India is considered as a family business and conducted unprofessionally, retailing and catering to a limited target of people. For countries like Malaysia, Thailand and Brazil organized retailing is ranging from 55 to 56 percent. In some of the countries like China, Poland and Indonesia, traditional retailing is still on the higher side. The retail sector is not to grow exponentially over the next couple of years. India is the fastest growing market in Asia Pacific for International tourist spending, according to latest Visa Asia release. The economy is growing by over 8% a year and India's growth rate can actually exceed that of China than Britain's by 2022 and by 2032 to become the second largest economy after China by 2050.

Investment Scenario :-

In the year 2010, India has assumed a notable position on the world canvas as a key international trading partner, majorly because of the implementation of its consolidated FDI policy. The consolidation, first undertaken in March 2010, pulls together in one document all previous acts, regulations, press notes, press releases and clarifications issued either by the DIPP or the Reserve Bank of India (RBI) where they relate to FDI into India.

According to the modified policy, foreign investors can inject their funds through the automatic route in the Indian economy. Such investments do not mandate any prior government permission. However, the Indian company receiving such investment would be required

to intimate the RBI of any such investment. The FDI rules applicable to such sectors are, therefore, fairly clear and unambiguous.

F.D.I. in Indian Retailing :-

Modern retailing is designed not only to provide consumers with a wide variety of products under one roof, but also of assured home-delivery and information feedback between consumers and producers. A modern retail outlet will also make it easy to buy on credit and provide for servicing and repairs of product sold. With IT application, the modern store can cut transaction cost such as due to inventory, delivery and handling. This is precisely how the US-based Wal-mart grew to the giant because it reduced its distribution cost to 3% of sales compared to 4.5% of others. F.D.I. in retailing has been the key drivers of productivity growth in Brazil Poland & Thailand. This has resulted in lower prices to the consumers, more consumption and higher profit for the producer. F.D.I. in retail trade has forced the outsourcing supplies domestically. The availability of standardized products has also booted tourism in these countries.

India is today the only major economy that still does not permit F.D.I. in retail trade. In China, 35 of the world's top 70 retailers have already entered and set up business they have helped boost exports. Wal-Mart alone exported in 2002 about \$12 billion worth of goods. These retailers source their goods from China.

F.D.I's Performance Review

S.NO.	Year	Amount of FDI Inflows	
		In Rupee Crore	In US\$ million
1.	1991-92	409	167
2.	1992-93	1,094	393
3.	1993-94	2,018	2,018
4.	1994-95	4,312	1,374
5.	1995-96	6,916	2,141
6.	1996-97	9,654	2,770
7.	1997-98	13,548	3,622
8.	1998-99	12,343	3,083
9.	1999-2000	10,311	2,439
10.	2000-01	12,645	2,908

11.	2001-02	19,361	4,222
12.	2002-03	14,932	3,134
13.	2003-04	12,117	2,634
14.	2004-05	17,138	3,755
15.	2005-06	16,394	3,695
	Grand total	1,53,192	37,051

Source:- Images F & Research India Retail Report 2007.

India is targeting its GDP to grow by 8% to 10% per year. The equines raising the rate of investment as well as generating demand for the increased goods and services produced. Exports is one way of generating demand. Encouraging private consumption expenditure is another way. Both these can be facilitate by allowing market-survey, market-intelligent and best management practices, through corporations such as Wal-Mart, Carrefour, A hold JC Penny, etcetera to enter India. These retail giant houses can bring their better managerial practices and IT-friendly techniques to cut wastage and set up integrated supply chain to gradually replace the presented disc organized and fragmented retail itself. These international retail outlets can help develop the food processing industry which require \$28 billion of modern technology and infrastructure.

Sectors Attracting Highest FDI Inflows

Rank	Sector	Amount of FDI inflows					
		2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	Cumulative in flow	%age with FDI in Flows
1.	Electrical equipments	3,075	2,449	3,281	3,796	21,006	16.50
2	Transportation Industry	2,173	1,417	815	830	13,162	10.50
3.	Service Sector	1,551	1,235	2,106	2,035	12,162	9.64
4	Telecommunication	1,058	532	588	886	12,274	9.58
5.	Fuels	551	521	759	150	12,199	8.41
6.	Chemicals	611	94	909	856	10,711	5.86
7.	Food Processing Industries	177	511	174	158	7,456	3.67
8.	Drugs & Pharmaceuticals	192	502	1,343	499	4,678	3.18
9.	Cement & Gypsum Product	101	44	1	1,70	3,231	2.54

10.	Metallurgical Industries	222	146	881	560	2,695	2.12
-----	--------------------------	-----	-----	-----	-----	-------	------

(Sources:- CII- McKinsey Report)

SECTORS ATTRACTING HIGHEST FDI EQUITY INFLOWS:

Amount in Rs. erores (US\$ in million)

Ranks	Sector	2008-09 (April-March)	2009-10 (April-March)	2010-11 (April- Feb.)	Cumulative Inflows (April'00- Feb.'11)	% age to total Inflows (in terms of US\$)
1.	SERVICES SECTOR (financial & non-financial)	28,516 (6,138)	20,776 (4,353)	14,958 (3,274)	120,165 (26,873)	21 %
2.	COMPUTER SOFTWARE & HARDWARE	7,329 (1,677)	4,351 (919)	3,490 (766)	47,619 (10,705)	8 %
3.	TELECOMMUNICATIONS (radio paging, cellular mobile, basic telephone services)	11,727 (2,558)	12,338 (2,554)	6,398 (1,410)	47,108 (10,342)	8 %
4.	HOUSING & REAL ESTATE	12,621 (2,801)	13,586 (2,844)	5,070 (1,109)	43,112 (9,615)	7 %
5.	CONSTRUCTION ACTIVITIES (including roads & highways)	8,792 (2,028)	13,516 (2,862)	4,839 (1,072)	40,532 (9,125)	7 %
6.	AUTOMOBILE INDUSTRY	5,212 (1,152)	5,754 (1,208)	5,962 (1,320)	26,784 (5,917)	5 %
7.	POWER	4,382 (985)	6,908 (1,437)	5,639 (1,237)	26,642 (5,884)	5 %
8.	METALLURGICAL INDUSTRIES	4,157 (961)	1,935 (407)	4,783 (1,044)	18,223 (4,174)	3 %
9.	PETROLEUM & NATURAL GAS	1,931 (412)	1,328 (272)	2,571 (562)	13,684 (3,142)	2 %
10.	CHEMICALS (other than fertilizers)	3,427 (749)	1,707 (362)	1,746 (384)	13,014 (2,878)	2 %

Note: Cumulative Sector- wise FDI equity inflows (from April 2000 to February 2011) - Annex-'B'

(Source-www. Fact sheet of India retailing. Com.)

Employment in Retailing:-

A simple glance at the employment numbers is enough to paint a good picture of the relative sizes of these two forms of trade in India - organized trade employs roughly 5 lakh people &, whereas the unorganized retail trade employs nearly 3.95 crores! According to a GoI study the number of workers in retail trade in 1998 was almost 175 lakhs. Given the recent numbers indicated by other studies, this is only indicative of the magnitude of expansion the retail trade is experiencing, both due to economic expansion as well as the 'jobless growth' that we have seen in the past decade. It must be noted that even within the organized sector, the number of individually-owned retail outlets far outnumber the corporate backed institutions. Though these numbers translate to approximately 8% of the workforce in the country (half the normal share in developed countries) there are far more retailers in India than other countries in absolute numbers, because of the demographic profile and the preponderance of youth, India's workforce is proportionately much larger. That about 4% of India's population is in the retail trade says a lot about how vital this business is to the socio-economic equilibrium in India.

Share of retailing in employment across different countries

Country Employment	Percentage(%)
India	08
U.S.A.	16
Poland	12
Brazil	15
China	07

Source: Presentation to FICCI by Alan Rosling (Chairman, Jardine Matheson

Group): "International Experience on Policy Issues." 31 Jan, 20004.

Problems of India Retailing :-

Retail industry in India is faced lots of problems, some are as under:-

1. The organized retail industry in India is faced with **stiff competition** from the unorganized
2. There is a **shortage of quality real estate and infrastructure** requirements in our country

3. **Opposition to Foreign Direct Investment** from small traders affects retail industry.
4. **Very high stamp duties** on transfer of property affects the industry.
5. **Shortage of retail space** in central and downtown locations also hinders the growth of retail industry.
6. Presence of strong **Pro-tenancy laws** makes it difficult to evict tenants and this is posing problems
7. **Land-use conversion** is time consuming and becoming complex.
8. For settling **property disputes**, it consumes lot of time.
9. **Rigid bnilding laws** makes procurement of retail space difficult.
10. Non residents are not allowed to own property except they are of **Indian origin**.
11. **Prohibition of Foreign investment** in real estate business.
12. **Customs duties** are levied on import of goods in India.

Even the he year 2000 that the global management consultancy A T Kearney put a figure to it: Rs. 400,000 crore which will increase to Rs 800,000 corer by the year 2005 an annual increase of 20 percent. Retailing in India is thoroughly unorganized. There is no supply chain management perspective. According to a survey by A T Kearney, an overwhelming proportion of the Rs.400,000 crore retail market is unorganized. In fact, only a Rs. 20,000 crore segment of the market is organized. As much as 96 percent of the 5 million plus outlets are smaller than 50 sq. ft. in area. This means that India per capita retailing space is about 2 sq. ft. India's per capita retailing is thus the lowest in the world just over 8 percent of India's population is engaged in retailing. There is no data on this sector's contribution to the GDP. From a size of only Rs.20,000 crore, the organized retail industry will grow to Rs. 160,000 crore by 2005. The total retail market, however, as indicate above will grow 20 percent annually from Rs.400,000 crore in 2000 to Rs. 800,00 crore by 2005. Given the size and the geographical, cultural and socio economics diversity of India, there is no role model for India suppliers and retailers to adapt or expand in the India context. The first challenge facing the organized retail industry in India for some centuries. It is a low cost structure, mostly owner operated, has negligible real estate and labour costs and little or no taxes to pay. Consumer familiarity that runs from generation to generation is one big advantage

for the traditional sector. In contrast, players in the organized sector have big expenses to meet, and yet have to keep prices low enough to be able to compete with the traditional sector. High costs for the organized sector arise from higher costs, social security to employees, high quality real estate, much bigger premises, comfort facilities such as air conditioning, back-up power supply, taxes etc. Organized retailing also has to cope with middle class psychology that the bigger and brighter a sales outlet is, the more expensive it will be. The above should not be seen as a gloomy foreboding from global retail operators. International retail majors such as Benetton, Dairy Farm and Levis have already entered the market. Lifestyles in India are changing and the concept of "value for money" is picking up. India's first true space was inaugurated as late as in 1999 in Mumbai. Local companies and local foreign joint ventures are expected to be more advantageously positioned than the purely foreign ones. International and/or professionally managed Indian corporations to pioneer a modern retailing industry in India will benefit from it. The prospects are very encouraging. The first step towards sophisticated retailing is being taken and "crossroad" is the best example of this awakening. More such malls have been planned in other big cities of India. An FDI Confidence Index survey done by AT Kearney, retail industry is one of the most attractive sectors for FDI (foreign direct investment) in India and foreign retail chains would make an impact circa 2003.

Recommendations:-

1. The retail sector in India is severely constrained by **limited availability of bank finance**. The Government and RBI need to evolve suitable lending policies that will enable retailers in the organized and unorganized sectors to expand and improve efficiencies. Policies that encourage unorganized sector retailers to migrate to the organized sector by investing in space and equipment should be encouraged.
2. A **National Commission** must be established to study the problems of the retail sector and to evolve policies that will enable it to cope with FDI - as and when it comes.
3. The proposed National Commission should evolve a clear set of **conditionality on giant foreign retailers** on the procurement of farm produce, domestically manufactured merchandise and imported

goods. These conditions must be aimed at encouraging the purchase of goods in the domestic market, state the minimum space, size and specific details like, construction and storage standards, the ratio of floor space to parking space etc. Giant shopping centers must not add to our existing urban snarl.

4. Entry of foreign players must be **gradual and with social safeguards** so that the effects of the labour dislocation can be analyzed & policy fine tuned. Initially allow them to set up supermarkets only in metros. Make the costs of entry high and according to specific norms and regulations so that the retailer cannot immediately indulge in 'predatory' pricing.
5. In order to address the dislocation issue, it becomes imperative to develop and **improve the manufacturing sector** in India. There has been a substantial fall in employment by the manufacturing sector, to the extent of 4.06 lakhs over the period 1998 to 2001, while its contribution to the GDP has grown at an average rate of only 3.7%¹⁷. If this sector is given due attention, and allowed to take wings, then it could be a source of great compensation to the displaced workforce from the retail industry.
6. The government must actively encourage setting up of **co-operative stores** to procure and stock their consumer goods and commodities from small producers. This will address the dual problem of limited promotion and marketing ability, as well as market penetration for the retailer. The government can also facilitate the setting of **warehousing units and cold chains**, thereby lowering the capital costs for the small retailers.
7. According to IndiaInfoline.com, **agro products and food processing sector in India is responsible for \$69.4 billion out of the total \$180 billion retail sector** (these are 2001 figures). This is more than just a sizeable portion of the pie and what makes it even more significant is the fact that in this segment, returns are likely to be much higher for any retailer. Prices for perishable goods like vegetables, fruits, etc. are not fixed (as opposed to, say, branded textiles) and therefore, this is where economies of scale are likely to kick in and benefit the consumer in the form of lower prices. But due attention must be given to the producer too. Often the producer loses out, for example, when the goods are procured at Rs.2 and ultimately sold to the consumer at

about Rs.15 as in the case of tomatoes now. The Government themselves can tap into the opportunities of this segment, rather than letting it be lost to foreign players. And by doing so, they can more directly ensure the welfare of producers and the interest of the consumers.

8. Set up an **Agricultural Perishable Produce Commission (APPC)**, to ensure that procurement prices for perishable commodities are fair to farmers and that they are not distorted with relation to market prices.

Recommendations for the Food Retail Sector:

With 3.6 million shops retailing food and employing 4% of total workforce and contributing 10.9% to GDP¹⁸, the food-retailing segment presents a focused opportunity to the Government to catalyze growth & employment.

1. Provision of training in handling, storing, transporting, grading, sorting, maintaining hygiene standards, upkeep of refrigeration equipment, packing, etc. is an area where ITI's and SISI's can play a proactive role.

2. Creation of **infrastructure** for retailing at mandis, community welfare centers, government and private colonies with a thrust on easier logistics and hygiene will enable greater employment and higher hygiene consciousness, and faster turnaround of transport and higher rollover of produce.

3. **Quality regulation**, certification & price administration bodies can be created at district and lower levels for upgrading the technical and human interface in the rural to urban supply chain.

4. **Credit availability** for retail traders must be encouraged with a view to enhancing employment and higher utilization of fixed assets. This would lead to less wastage (India has currently the highest wastage in the world) of perishables, enhance nutritional status of producers and increase caloric availability.

5. Several successful models of **integrating very long food supply chains** in dairy, vegetable, fish and fruit have been evolved in India. These one off interventions can be replicated in all states, segments and areas. Cross integrations of these unique food supply chains will provide new products in new markets increasing consumer choice, economic activity and employment.

6. Government intervention in food retail segment is necessitated by:

- a) The lack of any other body at remote/grassroots level.
- b) Need to provide market for casual and distant self-employed growers and gatherers.
- c) Maintain regulatory standards in hygiene.
- d) Seek markets in India and abroad (provide charter aircrafts, freeze frying, vacuuming, dehydrating, packing facilities for small producers at nodal points).
- e) Provide scope and opportunity for productive self-employment (since Govt. can't provide employment). At a subsequent stage, these interventions can be integrated into the

supply chains of the foreign retailers in India and abroad, creating synergy between national priorities, market realities, globalization, and private-public cooperation.

In this fashion, the Government can try to ensure that the domestic and foreign players are approximately on an equal footing and that the domestic traders are not at an especial disadvantage. The small retailers must be given ample opportunity to be able to provide more personalized service, so that their higher costs are not duly nullified by the presence of big supermarkets and hypermarkets.

Current Perspective:-

Allowing FDI in retail trade, especially in groceries and marketing, is one sure way of doing it. Food processing and textile will grow very substantially from the linkage effect of a modernized, globalised retail trade that only FDI can ensure. The employment generation for India youth would also be enormous. India retail trade is of enormous size nearly, 10 percent of GDP, employing 21 million persons, which is about 7% of the labour force. It is six times bigger than Thailand and five times larger than South Korea and Taiwan, China's retail trade is 8% of GDP and 7% employment. But the trade in India is fragmented, unorganized, unnetworked, and individually small. The 12 million kirana shops are mostly family or "mapa" owned with little capital for expansion or credit to receive or to extend to consumers. About 96% of these shops have 500 sq ft or less of space with limited stock or choice to offer. According to Standard and Poor's foreign direct investment to India is likely to grow the fastest in next five years. AS targeted

FDI is to his \$13 billion in the 12 months ending March 2007, more than double India's previous best of \$5.5 billion hit in the previous year. India is investing over US \$ 130 billion in infracture by the end of this decade. India retail industry itself has attracted investment of over INR 200 billion in creating infrastructure, systems and shop-fit, The additional retail space is expected to add INR 300 billion of business to organized retail. India's stock market continues to rise at unprecedented levels and foreign investors are flooding in. The quantum of investment is likely to skyrocket at the inherent attractiveness of the segment lures more and more investors to earn large profit. With the largest young population in the world-over 890 million people below 45 year of age, India is indeed a resplendent market. India has more English speaking people then in the world of Europe taken together. Its 300 million odd middle class, the "real" consumers, is catching the attention of the world. AS the economy grows so does India's middle class. It is estimated 70 million India earn a salary of over INR 800,000 a year, a figure that is set to rise to 140 million by 2011.the number of effective consumers is expected to swell to over 600 million by 2010- sufficient to establish India as one of the largest consumers markets of the world.

With the changing face of retail the Indian consumers is in for a rapid transformation while the consumers spending continues to grow at double digit figures, leading retailers have recorded an increase in sales between 50 to 100 % in the calander year 2006 over the previous year. According to India Retail Report 2006, the total private consumption touched INR 20,000 billion at current prices in the calendar year 2006 with organized sector according for INR 55,000 crore. Moving forward organized retailing is projected to grow at the rate of about 37% business increasing its share to 4.6 % of the total Indian Retail, value that stood at INT 12,000 billion in 2007 and 42% in 2008. Organized retail in India has the potential to add over INR 2,000 billion business by the year 2010. The consumer spending is ultimately pushing the economy into a growth and liberalization mode. The Indian market is becoming bolder by the day with the economy now expecte to grow at over 8% average salaries being hiked by about 15%, there will be mot more consumption. The retail market in India is estimated at Rs.5,88,000 crore. Of this the unorganized market is worth Rs.5,83,000 crore and the organized market is Rs.5,000 crore.

Foreign Direct Investment(F.D.I).....

India has been ranked at the second place in global foreign direct investments in 2010 and will continue to remain among the top five attractive destinations for international investors during 2010-12 period, according to United Nations Conference on Trade and Development (UNCTAD) in a report on world investment prospects titled, 'World Investment Prospects Survey 2009-2012'

The 2010 survey of the Japan Bank for International Cooperation released in December 2010, conducted among Japanese investors, continues to rank India as the second most promising country for overseas business operations

A report released in February 2010 by Leeds University Business School, commissioned by UK Trade & Investment (UKTI), ranks India among the top three countries where British companies can do better business during 2012-14.

According to Ernst and Young's 2010 European Attractiveness Survey, India is ranked as the 4th most attractive foreign direct investment (FDI) destination in 2010. However, it is ranked the 2nd most attractive destination following China in the next three years.

Moreover, according to the Asian Investment Intentions survey released by the Asia Pacific Foundation in Canada, more and more Canadian firms are now focusing on India as an investment destination. From 8 per cent in 2005, the percentage of Canadian companies showing interest in India has gone up to 13.4 per cent in 2010.

India attracted FDI equity inflows of US\$ 2,014 million in December 2010. The cumulative amount of FDI equity inflows from April 2000 to December 2010 stood at US\$ 186.79 billion, according to the data released by the Department of Industrial Policy and Promotion (DIPP).

The services sector comprising financial and non-financial services attracted 21 per cent of the total FDI equity inflow into India, with FDI worth US\$ 2,853 million during April-December 2010, while telecommunications including radio paging, cellular mobile and basic telephone services attracted second largest amount of FDI worth US\$ 1,327 million during the same period. Automobile industry was the third highest sector attracting FDI worth US\$ 1,066 million foollowed by power sector which garnered US\$ 1,028 million during the financial year April-

December 2010. The Housing and Real Estate sector received FDI worth US\$ 1,024 million.

During April-December 2010, Mauritius has led investors into India with US\$ 5,746 million worth of FDI comprising 42 per cent of the total FDI equity inflows into the country. The FDI equity inflows in Mauritius is followed by Singapore at US\$ 1,449 million and the US with US\$ 1,055 million, according to data released by DIPP.

Opportunity for Global Players :-

Favorable demographic and psychographic changes relating to India's consumer class, international exposure, availability retail space, wider availability of products and brand communications are some of the factors that are driving the retail in India. Over the last few years, many international retailers have entered the Indian market on the strength of rising affluence levels of the young Indian population along with the heightened awareness of global brands, international shopping experiences and the increased availability of retail real estate space. Development of India as a sourcing hub shall further make India attractive retail opportunity for the global retailers. Currently FDI is not permitted in Indian retail, except under private labels, hi-tech items, Items requiring specialized after sale services, medical & diagnostic items and items sourced from Indian small sector where the products are manufactured with technology provided by the foreign collaborators. So far, to booming retail market, fearing it without hurt the million mom and-pop shops that currently dominate the market. India currently allows foreign investment only in single brand stores in which sales is managed through company owned network stores. WE can call the same as organized retailing, which currently accounts total about US \$ 8 billion, or less than 5 % of the market. However, the government is now considering opening up sectors like electronics, sports goods, and building equipments, where local business are not well established. Global retail giant such as Wal-Mart and Germany's Metro AG have been lobbying the Indian government for years to open the country's retail sector, which is growing 30% annually.

Over 8% of India's population is engaged in retailing. According to ASSOCHAM, the total retail market is expected to grow by 20% annually and is one of the fastest growing sectors in India.

SHARE OF TOP INVESTING COUNTRIES FDI EQUITY INFLOWS

(Financial years):

Amount Rupees in crores (US\$ in million)

Ranks	Country	2008-09 (April-March)	2009-10 (April-March)	2010-11 (April-Feb.)	Cumulative Inflows (April '00 - Feb. '11)	%age to total Inflows (in terms of US \$)
1.	MAURITIUS	50,899 (11,229)	49,633 (10,376)	30,280 (6,637)	241,186 (53,877)	42 %
2.	SINGAPORE	15,727 (3,454)	11,295 (2,379)	7,442 (1,641)	52,589 (11,831)	9 %
3.	U.S.A.	8,002 (1,802)	9,230 (1,943)	5,126 (1,120)	42,316 (9,398)	7 %
4.	U.K.	3,840 (864)	3,094 (657)	2,380 (521)	28,378 (6,405)	5 %
5.	NETHERLANDS	3,922 (883)	4,283 (899)	5,129 (1,131)	25,255 (5,618)	4 %
6.	JAPAN	1,889 (405)	5,670 (1,183)	6,890 (1,524)	23,785 (5,238)	4 %
7.	CYPRUS	5,983 (1,287)	7,728 (1,627)	3,817 (835)	21,595 (4,734)	4 %
8.	GERMANY	2,750 (629)	2,980 (626)	746 (164)	13,214 (2,963)	2 %
9.	FRANCE	2,098 (467)	1,437 (303)	3,239 (710)	10,158 (2,240)	2 %
10.	U.A.E.	1,133 (257)	3,017 (629)	1,513 (328)	8,536 (1,877)	1 %
TOTAL FDI INFLOWS *		123,025 (27,331)	123,120 (25,834)	83,687 (18,355)	575,889 (128,642)	

Note: (i) *Includes inflows under NRI Schemes of RBI.

(ii) Cumulative country-wise FDI equity inflows (from April 2000 to February 2011) - Annex-'A'.

(iii) %age worked out in US\$ terms & FDI inflows received through FIPB/SIA+ RBI's Automatic Route+ acquisition of existing shares only.

Source:-www.Indian retailing fact sheet from aug1991 to feb-2011- Mauritius, Singapore, US, Britain, the Netherlands, Japan, Germany and the UAE are the major investors here.

Conclusion :-

At present Foreign Direct investment is approved to the extent

of 100% in Cash and Carry Wholesale formats. Franchisee arrangements are also permitted in retail trade. Subject to the certain condition FDI is permissible upto 51% in single brand products such as product to be sold should be of a "single Brand" only, Product should be sold under the same brand internationally. The retail market size in India is estimated to be about \$ 300 billion, which is expected to grow to \$ 427 billion by 2010. Organized retail currently account for only 2-3 of the retail market in India.

In nutshell, at present our retail sector mainly suffer due to its feudal structure and lack of proper investment. When organized retail shall be backed by proper investment "production cycle" supply chain management and 'distribution' shall become efficient and effective. There shall be newer product categorized, more variety as well as advantage of economies scale due to large size of transactions.

The organized retail industry is facing lot of opposition from traders, politicians and the government has to formulate a separate policy for the industry. FDI needs to be encouraged and land acquisition rules required modification. Retail has to be recognized as a separate industry and to be given fair treatment by all. Last but not the least, they shall provide greater levels of wages which in turn shall increase purchasing power of customers and would help in breaking vicious cycle poverty of India.

References :-

- " Business World magazine- various issues.
- " 'Indian Journal of Marketing'- various issues.
- " 'Retailer', Magazine- various issues.
- " www. Retailing Management . com.
- " www, Performance review of Indian retailing. Com
- " www. F.D.I. in Indian retailing . com

IMPACT OF GLOBALIZATION AND LIBERALIZATION ON INDIA

Dr. Meena Singh

*Part-time Lecturer in Commerce Deptt. Arya Mahila P.G.
College, Chetganj, Varanasi*

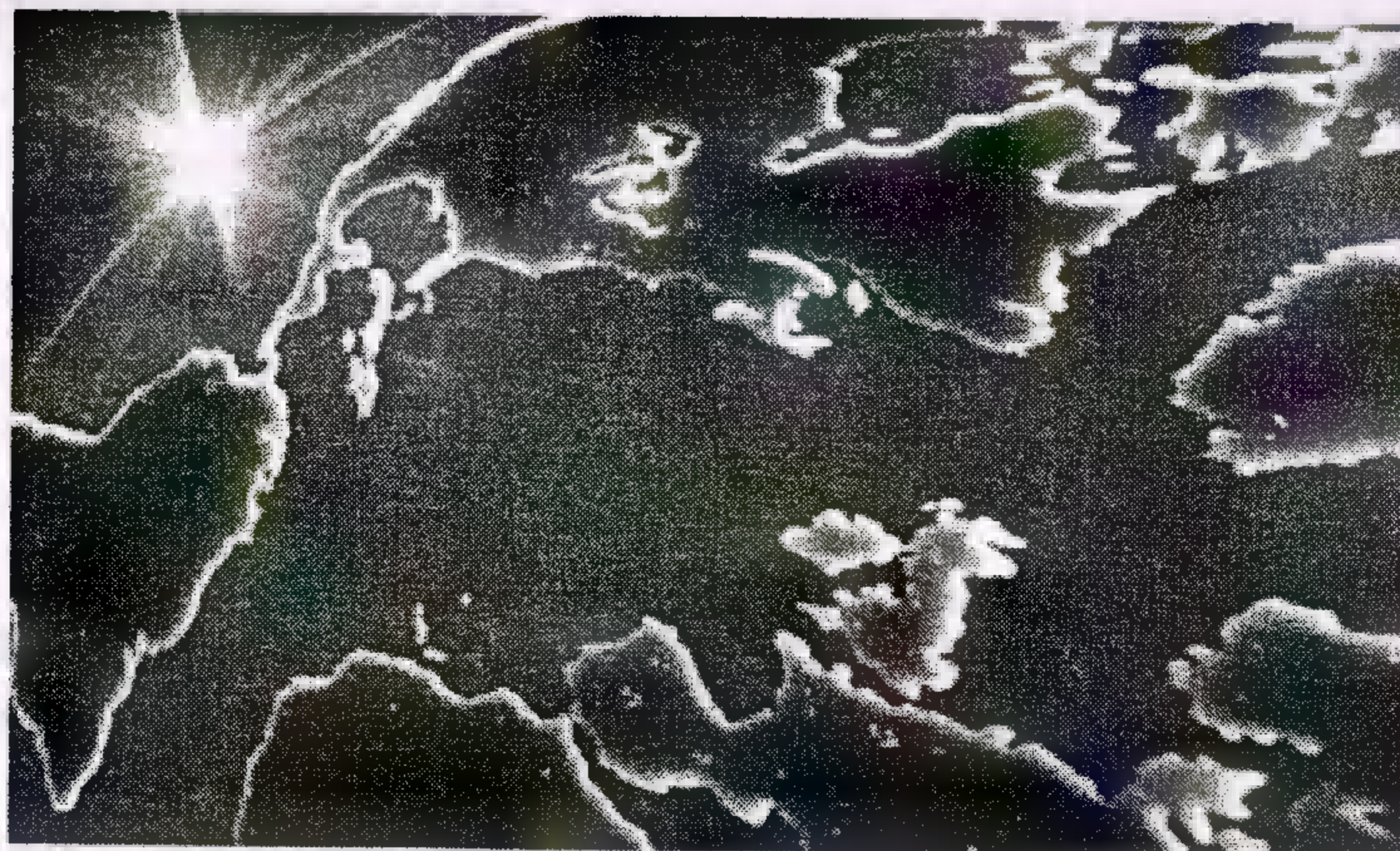
Introduction

Globalization and Liberalization both are interdependent on each other. The first wake of globalization started in India when the economic liberalization policies were undertaken in the 1990's by Dr. Manmohan Singh. In 1880's stress has given on globalization and liberalization of the market by the Congress Government under the control of Mr. Rajiv Gandhi. In his government tenure, plenty of restrictions were abolished on a number of sectors and the regulations on pricing were also put off. Effort was also put to increase the condition of the GDP of the country and to increase export.

Globalization has become basic need of an economy. Globalization means increasing the interdependence, connectivity and integration on a global level with respect to the social, cultural, political, technological and economic level. It has several advantages on the economic, cultural, technological, social and some other fronts. Any myths, existing in the mind, regarding these must be dispelled. Globalization means financial consolidation of the world channelized through free trade and capital inflows. Free labor movement between the countries is another aspect of the globalization. As per India is concerned, globalization means opening doors for foreign direct investment (FDI) by facilitating the process of investment for international companies in various areas of economic activity in the nation. It also signifies MNCs entry into India and tie-ups of Indians companies with foreign institutions. Launching joint ventures in the foreign destinations and liberalization programs are also the part of the globalization process in India.

Globalized World

India, China and other developing globalization countries, with



adopting measures for financial integration not only got rid of their poor economic conditions, but they have also been able to offer one of the most competitive economic opportunities to rich nations even during global economic crisis. These nations presented a very positive outlook of the liberalization and privatization processes. Today, the process of globalization has taken an unprecedented dimension transforming the world into a global village. In this process it is impossible for any nation of the world to exist in a state of isolation if thought in terms of progress and welfare. Therefore, going forward together in cooperation is indispensable and inevitable now. Moreover, in this process of global change the role of youths is as important as it has been in the past especially in the reconstruction and development of their native societies or nations. In other words, their role and contribution in this process of globalization is as desirable as it is important at the local and national level.

Taking India for instance, twenty-five percent graduates of its four main technical institutes go to the United States of America every year where they significantly contribute in many fields including information technology. Similarly, they play a vital role in other countries of the world especially in the nations of Europe.

As the process of globalization has to go further, many more dimensions have to be added to this process where the role of youths become undoubtedly more vital and significant, thus increasing their responsibility many folds. Taking a lesson from history, youth must work

with extra care so that the situation like that of socio-political slavery does not emerge again. Along with this, they should ascertain that everyone on this planet gets equal opportunity to rise and take the benefit of development at the global level. The data pertaining to the continuously increasing process of globalization is well before us to prove the role played by youths in bringing it forward. Particularly, the revolutionary contribution of youths in the economic field and also in science and technology including information technology is worth mentioning, and is unprecedented. More especially, the role played by the youths of China and India, the two super powers of the future, in exemplary and ideal for the youths of whole world.

Benefits of Globalization

- o the possibility of war between the developed countries decreases
- o free trade between countries increases
- o global mass media connects all the people in the world
- o as the cultural barriers reduce, the global village dream becomes more realistic
- o there is a propagation of democratic ideals
- o the interdependence of the nation-states increases
- o as the liquidity of capital increases, developed countries can invest in developing ones
- o the flexibility of corporations to operate across borders increases
- o the communication between the individuals and corporations in the world increases
- o environmental protection in developed countries increases

Future of globalization

In next 25 years, the population of the entire world would go up by 2 billion to a figure of 8 billion people. The 98% of the surge of the population would be in the developing countries. In 2008, more than 47 % of the global population lived in urban areas. By 2020, 4.1 billion, or 55% would be living in urban areas.

Dual side of Globalization

Globalization is all about risks and opportunities, which should be managed at the national level by a strong social, structural, and financial system. Globally, there is a need to establish a strong interna-

tional financial architecture and get rid of the challenges thrown open to us. This is where globalization and role of world bank cannot be denied.

Thus, it is hoped that youth and their leadership will work in the right direction with a sense of responsibility and constructive approach. It is also hoped that they will perform their duty well in the process of globalization. Moreover, it is our duty that we join them and wherever necessary direct them. Finally, we all are the shareholders in the gains achieved through the efforts of youths, which will be a gain for the entire world.

Impact of Globalization on Employment in India

Globalization has played an important role in the generation of employment in India. Since the economic liberalization policies in the 1990s, the employment scenario in the country has significantly improved. An analysis of the impact of globalization on employment in India will bring out a number of factors in this regard.

Improvement in the standard of living

As globalization has put a favorable impact in the economy of the country, there has been an improvement in the standard of living of the people. The favorable economic growth has led to the development of infrastructure, health care facilities and services, per capita income and other factors which have really led to the high growth rate. It has been expected that the economy in India will grow by around 6-7 % yearly. This growth rate is expected to improve the overall employment situation more and the per capita income will also increase significantly.

Government Initiatives

To keep pace with the favorable effects of globalization, the government has taken a number of initiatives. A number of employment opportunities such as Prime Minister Rojgar Yojna and the CM Rojgar Yojna have been initiated to improve the employment situation in rural areas. The Minimum Wages schemes has also been successfully implemented. In order to improve the quality of the workforce, effort is also being given to impart education to various sectors of the rural areas. Under these schemes, new schools are being opened up and the attention is also being given to the welfare of the students. Likewise in the urban sector too, more and more employment opportunities are being

opened up for the youth in a number of government sectors, banks and so on.

In order to foster communication and migration of workforce to various parts of the country to cater to the needs, the government has also developed infrastructure to a great extent. New roads and highways are being constructed to increase.

Liberalization

The economy of India is one of the fastest growing economies in the world. Since its independence in the year 1947, a number of economic policies have been taken which have led to the gradual economic development of the country. India's one important policy is Liberalization policy and it was started in 1991. In general, liberalization refers to a relaxation of previous government restrictions, usually in areas of social or economic policy. In the arena of social policy it may refer to a relaxation of laws restricting for example divorce, abortion or drugs. Liberalization is freeing economy from government control. It was started, when Dr. Manmohan Singh (the present P.M.), was Finance minister in Mr. P.V. Rao's government.

From independence till the part of the 1980s, India economic approach was mainly based on government control and a centrally operated market. The country did not have a proper consumer oriented market and foreign investments were also not coming in. This did not do anything good to the economic condition of the country and as such the standard of living did not go up. In the 1980s, stress has been given on globalization and liberalization of the market by the Congress government under Rajiv Gandhi. In his government tenure, plenty of restrictions were abolished on a number of sectors and the regulations on pricing were also put off. Efforts were also put to increase the condition of the GDP of the country and to increase export. It leads to changes in the patterns of production and employment. This offers significant adjustment challenges. Import liberalization may facilitate easy import of better intermediates and capital goods but this may adversely affect domestic suppliers of intermediate products. Openness may adversely affect domestic suppliers of intermediate products. Openness may also lead to awareness or import of better production techniques or technology that may change input-output co-efficient which may affect intermediate demand. Openness may provide opportunities for sales in world

markets and thus lead to export expansion.

The economy of India is the eleventh largest economy in the world by nominal GDP and fourth largest by purchasing power parity (ppp). India is an emerging economic power with a very large pool of human and natural resources, and a growing large pool of skilled professionals. About India, Economists predict that by 2020, India will be among the leading economies of the world. Since liberalization the value of India's international trade has become more broad-based. India's major trading partners are China, the US, the UAE, the UK, Japan and EU.

Women as consumers

Trade liberalization is good for women consumers. Women will benefit from the lower prices both as individuals and as members of households. The introduction of new and cheaper products such as food and household goods as a result of trade liberalization will provide greater choice and may reduce some of the burdens on women in terms of domestic and other unpaid work.

How does liberalisation affect the environment ?

1. **scale & Income effect :-** The available empirical evidence suggests that economic growth, for example resulting from trade liberalization with increases in the scale of consumption and production, will generate adverse environmental impacts through an increase in the use of natural resources and higher levels of pollution.

2. **Fisheries :-** International trade in fish and fish products can generate significant environmental and social costs, with over-fishing creating problems of stock depletion and threatening the livelihoods of fishing communities. On the environmental side, heavy fishing can affect genetic diversity of fish stock and the future regenerative capacity of the fishery. Declining stock of commercial fish for direct human consumption can threaten food security and nutrition levels in developing countries, particularly in coastal areas and among the poor where fish is a food. Trade liberalization in fisheries must be combined with an effective fisheries policy, which could include measures such as effective monitoring of quantitative controls removal of subsidies, redistribution measures for social reasons, during the adjustment period.

Conclusion

Trade liberalization contributes positively to economic perfor-

mance. The trade liberalization is administratively simple to implement - indeed a transparent and liberal policy releases administrative resources for other tasks. But still there is need to see that various schemes must be thoroughly scrutinized and efforts must be made to see that the rewards must reach to everyone. Then India will not only be economically strong, but will also forge ahead towards its goal of world dominance. One important effect of globalization is the increased interdependence among nations, which the world has never seen before. Technological, economic, political and cultural exchanges between nations have increased tremendously. Interdependence among nations, globalization was demanded. Evenly, almost all nations, firms and private individuals are being affected by the forces of globalization, with trade liberalization as the necessary condition of the realization of the full impact of globalization.

REFERENCES

1. <http://www.Biazed.Co.uk/educators/16-19/economics/international/actiivty/liberalization1.htm>
2. http://en.wikipedia.org/wiki/economic_growth
3. <http://www.bis.gov.uk/files/fo/e1476.pdf>
4. http://en.wikipedia.org/wiki/economy_of_India
5. http://www.unescap.org/tid/publication/chap4_indpub2197.pdf
6. http://www.chillibreeze.com/articles/India_liberalization.asp
7. <http://www.ii09.org/pdf/15thconf/kumari.pdf>

THE SIGNIFICANCE OF THE CHATTRA AND CHATTRAS ON A STUPA

Dr. Ranjana Malviya

Assistant Professor Deptt. of Ancient Indian History Culture & Archaeology, Arya Mahila P.G. College, Varanasi

Stupa represents the supreme, the Buddha as well as Dharma. Bodhi tree too founds its expression in stupa. The tree became the symbol of Saddharma. The Yupa-yasti placed in the centre of the Stupa is identified with Bodhi tree. Prof. Irwin explains the hypothesis that Bodhi tree, not the Stupa was the principle shrine of Buddhism. The Tibetan term for the axial pillar of a Stupa is Srog- shing, literally 'life wood',¹. In Mahavamsa.² King Dutthagamani is described as having inserted in the mahastupa a Bodhi - rukha. Another part of the Stupa known as harmika is perhaps derived from the railing or Vedika that encloses a tree shrine. Later on the Bodhi- ghara 'tree temple' was in its essentials an overhanging platform or gallery built around the tree, and left open at the centre, so that worshippers, after mounting steps to the top, could pour- down water into the centre from branch - level. In this way, all essential needs were met : worshippers could circumambulate (at gallery level) and also lustrate with inconvenience to fellow worshippers.³ On the basis of this assumption the Chattras on a Stupa are perhaps converged from the upper part of the tree.

Chattra as a sign of royal or delegated power is evident in Sanskrit literature.⁴ Cakravarti King is worthy of a Stupa (Mahaparinirvana Sutta). This concept of Cakravartin can be applied to the Chattras on a Stupa.

It is clear from the archaeological evidences that Stupas have Yupa-yasti or wood-shafts in the centre. If these yupa-yastis are taken as symbols of Bodhi-tree then the chattras may be the upper part of the tree (i.e., full of leaves & branches).

Stupa is dharmakaya.

The Buddhist literature records a full fledged Stupa with seven

main divisions -

- 1- Four terraces (Skt, term, catasro vedyah or vedika).
- 2- The receptacle for the pot, (karandaka).
- 3- The pot (Kumbha).
- 4- The vessel (drona, harmika).
- 5- The pole or exle tree, symbol of Bodhi - tree (yasti).
- 6- The umbrella canopy (trayodasa chatravalyah).
- 7- The rain conopy (varsa- sthali).

This sevenfold division of the Stupa is detailed in the Tibetan version of the Vinaya- Ksudraka- Vastu⁵ of the Mulasarvastivadins. Buston⁶ closely follows it in the chapter Maha- Bodhi- Chaityamanam of his collected works. The Stupa passages also occur in the Chinese translations of Vinaya literature of Mulasarvastivadins, Mahisasakas, Dharmaguptakas, Mahasamghikas (translated by Fa hsien 416-418 A.D.) Sarvastivadins⁷ etc..

Caitya Vibhaga Vinayodbhava sutra in Tibetan, closely connects the stupa with the dharmakaya.⁸ This is related to the Skt. Ms.⁹ entitled Stupa-Laksana- karika vivecana attributed to Prakirnaka - Vinaya of Lokottaravadins (This MS8. is in the national Archives at Kathamandu). (Roth, 1980 : 183-207, has written a very).

Each and every part of the Stupa corresponds to dhamma. The first part consists of four terraces (in steps).

- a. The first terrace (= vedika) symbolizes the four applications of mindfulness. Skt. Catvari smrtiyupasthani, adhara vedi. According to MVY10 (952-956), these are - kaya, vedana, citta and dharma.
- b. The second terrace represents the four right exertions (catvarisamyak prahanani dvitiya vedi).
- c. The third terrace represents four elements of supernatural powers, catvara rddhipada trtiya vedi. According to MVY (966- 970) these are- chanda, citta virya and mimasa.
- d. The fourth terrace signifies five moral faculties (sraddhadini) pancendriyani caturtha janggha vedi. They are listed in MVy (976- 981) as sraddha, virya, smrti, samadhi and prajna.
- 2- The base of the pot symbolizes the five moral powers. sraddhadini pancabalani kanthakam. The above five indriyas provide

one with five corresponding power. Indriyas and Balas have the same names.

3- Pot (In Caitya laksana it is kumbha) symbolizes the seven constituents of enlightenment. Sapta bodhyangani kumbhah. According to MVY (988-955) these are - smriti, dharma, vicaya, virya, priti, prasarabhi, samadhi and upeksha.

4- Top enclosure harmika represents eight fold path. Astangga margo harmika.

5- Pole (=yasti) represents ten perceptions. Aryastangga margo yastih, but according to Skt- dasa jnanani yastih. The name of ten jnanas are explain in MVY (1233. 1- 1233.10). Duhkha jnana, samudaya J nirodha j. marga j., dharma j., annaya j., samvrtti j., paracitta j., khaya j. and anutpada j.¹¹

6- Now we come to parasols. Buddhist tradition enumerates 13 chattras as the representation of ten jnanabalas and three samacittatas. They are as follows.

- a. Sthanasthana jnanabalam
 - b. Karma svaka 12 jnanabala
 - c. Dhyana vimoksa samadhisamapatti jnanabala.
 - d. Indriyaparapara jnanabala.
 - e. Nanadhimukti jnanabala.
 - f. Nanadhatu jnanabala.
 - g. Sarvatragamini pratipaj jnanabal.
 - h. Purvanivasanusmrti jnanabala.
 - i. Chyutyutpatti jnanabala
 - j. Asravaksaya jnanabala
 - k. Susrusamanesu samacittata
 - l. Susrusamanesu samacittata
 - m. Susrusamana susrusamanesu samacittata
- 7- Varsasthali signifies the great compassion (=mahakaruna).

Lokottaravaddins tradition clearly explains the significance of the number of the umbrella conopies on a stupa. The layman's stupa is without chattras. Srotapanna has a Stupa with one, agamin's stupa with two, anagamin's with three, arhat's stupa with four canopies is recom-

mended. The stupa for Pratyekabuddha and Tathagata should be with thirteen chattras. On the top of 13 chattras Tathagata stupa has an additional varsasthali.

According to Chaity- Laksana- Vidhi at the end of Vajracarya Kriyasamuccay¹³ one, three, five or thirteen chattras are on the Stupa of Sambuddhas and Vajradharas; nine and seven canopies are on the Stupas of Pratyekabuddhas and Sravakas.

Chaniese and Japanese tradition has eight upto thirteen parasols on a Stupa.

Stutterheim¹⁴ while discussing the stupa with 13 chattras found in Bedulu at Bali "made the interesting remark that the number of chattras on top of a stupa may related to the importance of the person whose ashes were buried in it or who erected the monument." Leeuw¹⁵ agrees with he suggestion that this element (no. of chattras) is probably related to the status of the builder because the artists of Barabudur have depicted stupas with one, three, five and eleven sunshades. An Indonesian small bronze stupa has 21 chattras.

The great stupa of sanchi (3rd cent. B.C. - early 1st cent. A.D. has 3 chattras. It is built on the dhatus of the Buddha. But Sanchi Stupa no. 3 has only 1 chattra because it is built on the dhatus of Buddha's disciple, sariputra and Mahamoggalayana.¹⁶ Vinya- ksudraka- vastu (of Mulasarvastivadins 2nd cent. A.D.) mentions 13th chattras on Buddha's stupa. But this concept was not strictly followed in the Buddhist architecture. Even the assumption of Stutterheim can not be confirmed through the existing evidences of architecture.

Stupa with 21 chattras is found in Indonesia (fig. 10). A stupa depicted on a base of a pillar (C. 2nd Cent. A.D.) from Amaravati also has 21 chattras (Pl. 1).

Some examples of 1-21 chattras are cited here :

stupas with one chattra are Sanci stupa no. 3 (early 1st cent. B.C.) has one chattra. The great supa at Sanchi has 3 chattras. But on its 4 gates are engraved many one canopy stupas. 8 small stupas with one parasols are on the North gate (early 1st cent. A.D., Zimmer Pl. 7,8),¹⁷ East gate has 5 (early 1st cent A.D., Zimmer Pl. 14), West gate has 8 (1st cent. A.D., Zimmer Pl. 20, 21) and the South gate has 4 stupas with one chattra (Zimmer Pl. 23, 24).

A votive slab showing a stupa with one canopy from Amaravati is beautifully carved (2nd cent. A.D., Zimmer Pl. 98). A caitya from Karli (2nd cent. A.D.) has one chattra. Barabudura, Indonesia (8th cent), the most famous stupa of the Buddhist world has 8 one chattra-stupas in its reliefs (fig. 1).

Stupas with 2 chattras

The relief of south gate of Prasenjit Pillar (Bharhutt stupa, early 1st cent B.C.) has stupa with 2 chattras (fig. 2). A slab depicting the stupa from Amaravati (Late 2nd. cent. A.D.) has 2 chattras side by side (Zimmer, Pl. 96). There is only one other example with 21 chattras (Pl. 1) where chattras are arranged not one above the other but scattered all the four directions.

Stupa with 3 Chattras.

The great Stupa of Sanci is decorated with three parasols. Its north gate showing a stupa with 3 canopies side by side. Caitya interior of Ajanta cave no. 19 has 3 Chattras (Zimmer, Pl. 160) Barabudur has one stupa with tree chattras in its reliefs. (Fig. 3).

stupa with 4 Chattras

The Ruvanveli dagaba of Ceylon one of the most ancient and among the greatest, built by Duttagamini and his successor in 2nd cent B.C. has 4 Chattras on its Kota¹⁸.

Stupa with 5 Chattras.

Amongs the reliefs on southern wall of cave No. 11 of Yun-Kang, Shansi, (China) occurs a stupa with 5 Chattras (5th cent). The reliefs of Barabudura show two stupas with five Chattras (Fig. 4). North Pagoda (Pei-ta) of Su-Chou-fu, Kiangsu in China has 5 Chattras. Stupa top of I Rustam, Balkh is crowned with 5 Chattras (Fig. 5).

Stupa with 6 Chattras.

In the cave No. 11 relief of Southern wall from Yun-kang (China) has 6 Chattras.

Stupa with 7 Chattras.

Abbasheebchina in the Swat Valley has 7 Chattras. Among the relief of eastern wall of cave no. 11 Yun-Kang has a stupa with 7 canopies (Franz : Pl. XXII/52).¹⁹ Pagoda of Ling - Yen - Sse (Shantung, 742- 756 A.D.) is decorated with 7 Chattras (Fig. 6).

The significance of the chattra and its use in the stupa

Stupa with 9 Chattras

Great stupa of Amlukdarrah situated in Swat Valley has 9 Chattras. Pagoda of Horyuji, Nara late 7 cent. has 9 Chattras.²⁰ Tahoto (Pagoda) of Ishiyama-dera, Japan has 9 Chattras (Fig. 7). The three storied 2 pagoda of Hokkiji temple South of Nara in Japan '685-706 A.D.) is crowned with 9 Canopies.²¹ Bronze spire of Yakushiji pagoda of Nara (early 8th cent.) also has 9 sunshades.²² Tahoto (= stupa) of Ishiyama-dera in Japan (1200 A.D.) follows the tradition of 9 Chattras.

Stupa with 11 Chattras

Only one stupa with eleven chattras depicted in relief of Barabudura is known (Fig. 8).

Stupa with 13 Chattras.

Part of rock-cut relief at Bedulu in Bali shows stupa with 13 chattras (Fig. 9). A bronze stupa (c. 10th cent.) of Patna museum also carries 13 canopies. Miniature clay model of Tibetan stupa (called tsha-tsha) crowned by 13 chattras is illustrated by Tucci (1932 : Pl. X.). Sri Svayambhu Mahacaitya of Kathmandu, Nepal has 13 canopies (Sakya, 1978).

Stupa with 21 Chattras

A stupa depicted on a base of a pillar from Amaravati has 21 chattras. An Indonesia small bronze stupa is crowned by 21 chattras (Fig. 10).

REFERENCES :

1. Irwin, C.J. : The Exial Symbolism of the early stupa : An Exegesis in THE STUPA, An Exegesis 1980, P. 16, 18,
2. Mahavamsa, 30, 63
3. Irwin, C.J. : The Exial symbolism of the early stupa 1980, P. 19.
4. Monier Monier - Williams, A Sanskrit - English Dictionary, Oxford (Clarendon Press), 1899.
5. Chs. 21, 22.
6. Buxton was one of the the chief editor of Bkan - 'gyur (Kanjur) and Bstan - 'gyur (Tanjur).
7. See, for details, Bareau, A : La construction et le culte des stupas d'après les Vinayapitaka BFEO 50, 239 - 274.
8. Tucci, G : , "MC. CD RTEN" e "TS 'ATS "A" Nel Tibet Indiano

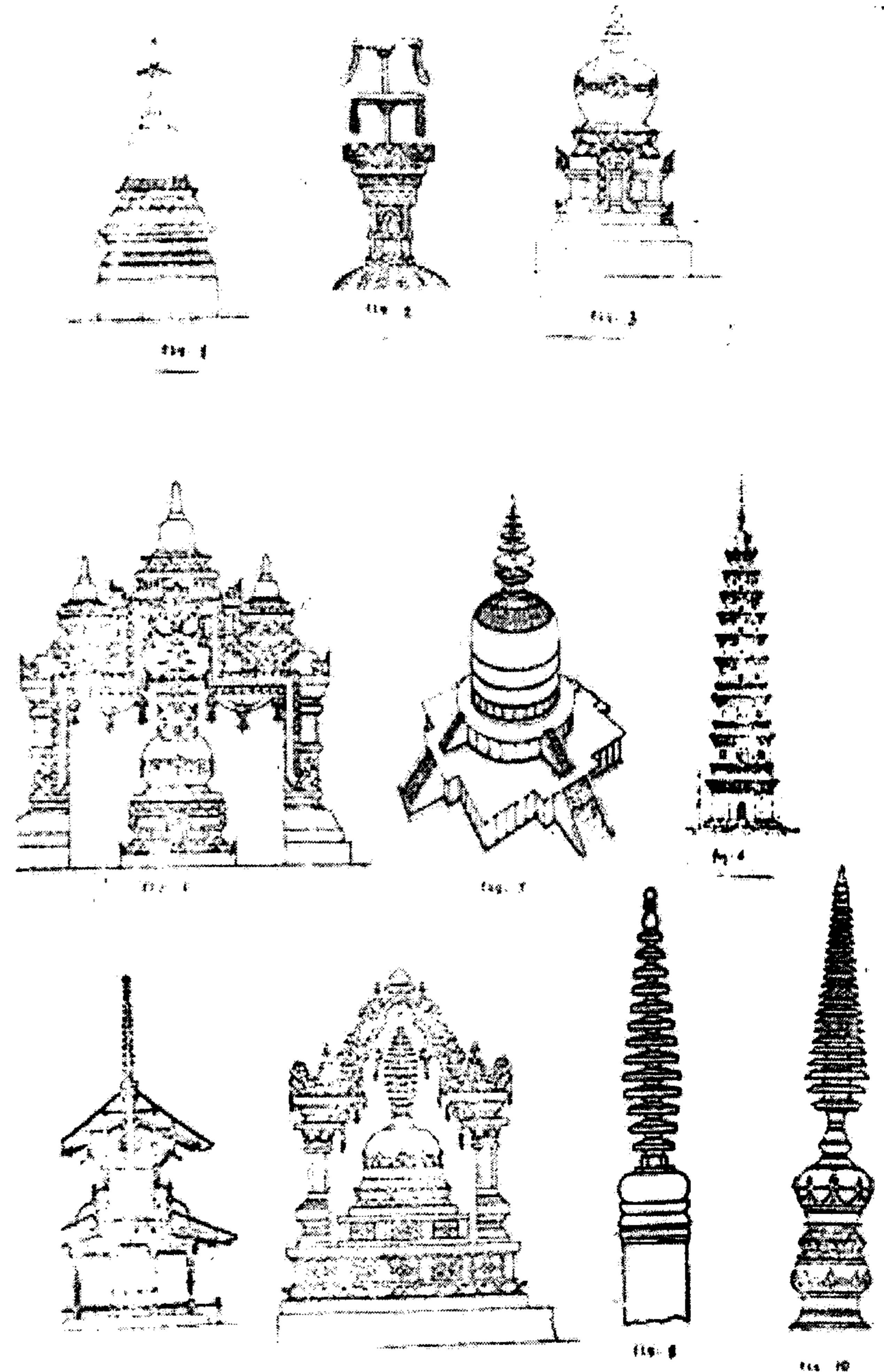
- ed occidentale, in : Indo - Tibetica I, Roma, 1932-XI.
9. This Ms. is in the national Archives at Kathmandu.
 10. Mahavyutpatt edited by Sasaki, Tokyo, 1926.
 11. See, Edgerton, F : Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary, 2 Vols. 1953h.
 12. MVY 121, Vipaka for Svaka.
 13. Roth, G : Symbolism of the Buddhist Stupa, in THE STUPA, 1980, P. 183 - 209.
 14. Stutterheim, W.F. : Enkele Oudheden Van Vali, Djawa 16.1936,P.78.
 15. Leeuw, L.i The Stupa in Indonesia, in The Stupa. 1980, P. 279.
 16. Agrawal, V.S. : Bharatiya Kala, Prithvi Prakashan, Varanasi, 1977, P. 176.
 17. Zimmer, H : The Art of Indian Asia, Bollingen Series XXXIX, 2 Vols, New Youk.
 18. Frederic, L. : The Temple and sculpture of South East Asia, London, 1965, P. 18.
 19. Franz, H.G. : pagoda, Turmtempel, Stupa, Graz, Akademische Druck - and Verlagsanstalt.
 20. Hiho : Horyuji I, Tokyo, 1970, P. 151.
 21. Ledderose, L. : Chinese Prototypes of the Pagoda, in THE STUPA, 1980, P. 238.
 22. Seckel D. : Stupa elements surviving in East Asian Pagodas, in THE STUPA, 1980, 249-254.

Sources of illustrated Figures :

- Fig. 1 Krom and Van Erp (1931), Pl. 44, Fig. B, (relief I B a 366 of Barabudur).
- Fig. 2 Zimmer (1960), Pl. 36 b.
- Fig. 3 Krom and Van Erp (1931), Pl. 44, Fig. j, (relief IV B. 33 of Barabudur).
- Fig. 4 Ibid, Pl. 46, fig. b, (relief II 45 of Barabudur).
- Fig. 5 bukya, 1952, 91
- Fig. 6 Boerschmann (1931), Pl. 142.
- Fig. 7 Seckel (1980), Fig. 7, P. 259 in THE STUPA.
- Fig. 8 Krom and Van Erp (1931), pl. 46, fig. C (relief II 98 of Barabudur).
- Fig. 9 Stutterheim (1936), Figs 2-3.

The significance of the chattra and chattras on a stupa

Fig. 10 Stutterheim (1936) Een bronzen Stupa, In : Djawa 19 p. 136.



ANCIENT INDIAN LITERATURE

Dr. Usha Kala Upadhyay

Associate Prof. AMPG college, Varanasi.

Ancient Indian literature is a saga of our culture, values and beliefs. It is an asset to every Indian as Ancient Indian literature is the crowning glory of Indian civilization and its evolution and development towards contemporary times. No other part of the world has probably produced such voluminous literature of knowledge and wisdom. Indian literature of ancient times entails all the minute details of day-to-day existence through spiritual understanding.

The rich tradition of Indian literature spans a period of about 4000 years. The RIG VEDA is the earliest known Indian literary work. Ancient Indian literature is a sign of the earliest known and acknowledged form in Indian literary traditions, which manifests its very first traces through the system of oral transmittance, or by word of mouth. Even prior to the arrival of Aryans into India, the legendary Indus Valley Civilization possessed amongst them the custom of 'gurukul' education. Gurukul essentially symbolized that a child was to leave his home during his childhood and travel to his guru's (teacher) place in the ashram, wherein he was to receive his absolute education, which was to be imparted orally. Such guru-shishya (relationship between a student and his teacher) educating fashion had paved way for the very first transmission of legends, stories, myths or facts, which further witnessed the gradual descending of these knowledge from generations to generations.

However, this very mode of oral transmission of invaluable treatises or profound knowledge, gradually posed a problem and a thing to worry about. It was deemed that there would be absolutely no use of these priceless words of mouth, if they were not preserved; these chunks of knowledge and information were gradually losing its importance with time, fading into oblivion. Thus was ushered in the first ever mode of scripting down priceless materials in the form of manuscripts, that is witnessed today. And herein comes the twist in ancient Indian literature and its traditions, which was to henceforth remain a viewer of the con-

tinuous rise in writing and writers.

This reverse sweep from oral to written mode witnessed the coming forth of Sanskrit language and its vast literature by legendary authors in a chain system. In this context, the Vedic Period had much involvement in ancient Indian literature and its development. Classical Sanskrit literature had prospered in the first few centuries of the first millennium C.E., as did Tamil Sangam literature and the Pali Canon.

According to historians, ancient Indian literature can be divided into two main categories of:

- **SHRUTI**
- **SMRITI**
- **SHRUTI** - literally stands for 'listened or heard'. Historians have also ascribed the word Shruti to the Guru-Shishya (teacher-student) system, where the disciple (student) hears directly from the guru. On the other hand, some other explanations attribute Shruti to the revelation of truth through hearing, which is linked more closely to the sound of AUM (OM) being the utmost truth. Shruti are considered the principal text. Shruti has higher authority over any other document and Shruti constitutes the Vedas; Bhagavad Gita also is known as Shruti.
- **SMRITI** - On the other hand Smriti literally stands for 'remembered or memorized'. Smriti is known to have been compiled over a great span of time, related to an assortment of subjects. Smriti though wields comparative lower authority, when associated with Shruti. If there comes about any contradiction between Shruti and Smriti, then Smriti needs to be discarded, while assuming Shruti as the authority. Smriti are divided into 6 basic categories: Dharmashastra, Itihasa, Purana, Sutra, Agama and Darsana

Vedic Literature and the Upanishads are highly esteemed as Shruti literature. The Sanskrit root 'shrut' means 'to hear'. During ancient times, while being engrossed in their tapasya and sadhana, the great sages are believed to have 'heard' the divine truths. Whatever was 'heard' of ancient Indian literature, was represented in the Vedas and the Upanishads. henceforth they came to be known as Shruti literature later in the texts of ancient Indian literature.

The literature which was based upon the knowledge acquired through the experience or the tradition was the Smriti literature of an-

cient Indian literature. In general terms, Smriti literature is based on Shruti. The celebrated Manu-Smriti and other smritis and shastras of ancient Indian literature, complete the full circle in Smriti literature. The guiding principle for ethics, moral obligations, social codes, customs and others can be encountered in Smriti literature. The great epics MAHABHARAT and RAMAYANA also fall under the category of Smriti literature and are integral parts of ancient Indian literature. Shruti literature is veritable and inviolable in ancient Indian literature, while Smriti literature may have been modified under the influence of time and place.

Vedic Literature is the most celebrated asset of the mankind. The RIG VEDA is the oldest literary work in the history of the world. Thus, it is well grasped how rich ancient Indian literature is. Vedic Literature is the superb expressions of the Divinity. They were the first important utterances on the lips of man. Ancient Indian literature is that glorious gift of Indian civilization to the world and its people to comprehend the reality of the materialistic world in an improved way. Ancient Indian literature virtually comprises an endless list of illustrious scriptures. Indeed, the broadened category of Indian scriptures broadly is classed into these categories of Shruti literature and Smriti literature.

Vedic literature and Sanskrit literature were considered almost inseparable, which began with the Rig Veda, a collection of sacred hymns dating back to the period 1500 to 1200 B.C.E. It is also known that most of ancient literature in India was scripted in Prakrit or Pali script, besides Sanskrit. Hence, ancient Indian literature can also be termed as 'Puranic Literature' or 'Sanskrit Literature'. Sanskrit literature is one of India's two oldest languages and the source and origin of several modern languages in India. It was in Sanskrit itself that this ancient period had witnessed literature take superlative form through the four Vedas: Rig Veda, Yajur Veda, Sama Veda and Atharva Veda; the Upanishads, Samhitas, Brahmanas and Aranyakas; the Sutras; the epics Ramayana and Mahabharata; and finally the entrance of Panini and his henceforth Sanskrit literature like Vaastu Shastra on architecture and build and Kama Sutra, the treatise on love and union.

Composed within 2000 B.C. to 500 B. C., the four cardinal Vedic books also stand in historic argument amongst historians related to their significance. Some people consider the first three as the most

important ones, as compared to Atharva. Each book further possesses four kinds of associated literature - hymns, rituals, meditation and mystical philosophy. The Vedas, it is now acknowledged, were not written during any single designated time, but compiled spanning several centuries by different people. As a result, the Vedas provide valuable insight into the historical and cultural development of ancient Indian literature and India as a whole during this period. Such diversity of content and volume also includes umpteen lines of thought and belief. The Upanishads also form a part of the Vedas and are strongly philosophical in content.

The great epic Ramayana was also handed down orally and evolved through several centuries before finally being penned down. Traditionally, the authorship of Ramayana is attributed to the Hindu sage Valmiki, who is referred to as "Aadikavi" or the first poet. He had introduced the Anustubh metre for the first time, which later went on to become the most popular metre in Sanskrit. The first and the last chapters (Balkhand and Uttarakhand) of the epic were added at a rather later stage. At times, it is also acknowledged that ancient Indian literature firmly stands on the basis of identification of these two epics.

However Ramayana forms the basis of Hindu faith and assimilates tales that form the basis for modern Hindu festivals. In fact, some of its practices survive till to this date, as for instance the elaborate ritual of Hindu marriage. The story of Ramayana is one that deals with Prince Ram, his exile and the abduction of his wife Sita by the demon Ravana and the subsequent rise of Lankan War. In between this main plot, there comes to light a number of stories appearing as sub plots, intricately absorbed into the main plot.

Mahabharata, yet another defining epic in ancient Indian literature, is one of the largest poetic works in the world. It comprises enormous tracts of Hindu mythology, philosophy and religious references. Mahabharata contains 100,000 stanzas, authored by sage Vyasa. The first stanza cites the book's name as Jaya, even though it is known as the Mahabharata. It is believed that the epic must have been orally transmitted for a few centuries thus leading to modifications, before finally being written down.

Thus, the Mahabharata simply evolved alongside Indian culture and is a veritable storehouse of cultural mores, mythology, religion and philosophical sophistication in the seminal work of Hindu religion

(Bhagavad Gita), which appears in the tenth chapter of Mahabharata. The epic, an integral faction for the evolvement of ancient Indian literature, states the story of two rival royal families fighting for the control of Hastinapur. It contains a number of sub-plots, which are additionally independent stories in their own rights. This epic had left a major impact and imprint on much later works. Mahabharata's significant effect can be wholly reflected in Indian literature, religion, and philosophy. At once eloquent and grand, the importance of Mahabharata can be summed up in what is written in it "what can be found here can be found elsewhere, what cannot be found here cannot be found elsewhere".

However, ancient Indian literature does not only end in these much talked-about and society-mirroring scriptures and inscriptions. Literature during this very ancient period in India also has much more.

REFERENCE -

- Internet (Google)
- E-Books by Sahitya Akademi

PREDICTORS OF RELATIONSHIP OF TEACHERS WITH PUPILS, FELLOW TEACHERS, PRINCIPALS AND PARENTS DIMENSIONS OF TEACHER EFFECTIVENESS

Dr. Gurusangat Singh

*Selection Grade lecturer, M.C.Khalsa College of Education,
Jammu*

Abstract

The study was conducted to explore the predictors of Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents as one of the dimensions of Teacher Effectiveness. The study was conducted in Jammu city. By using incidental sampling technique, a sample of 153 Male and Female Teachers, Arts, Science and Commerce Teachers from 16 Senior Secondary Schools participated in the study. A standardized Employees Motivation schedule by Srivastava (1998), Teacher Effectiveness Scale by Kumar and Mutha (1976), Occupational Stress Index by Srivastava and Singh (1994), Job Involvement Scale by Singh (1984) and ways of coping Questionnaire by Folkman and Lazarus (1988) were used to collect data. Data were analyzed by using stepwise multiple regression analysis. Out of 33 dimensions of four independent variables only 2 predictors were found. These are Need for Social Affiliation and Confirmation (Teacher Motivation) and Commitment to Work (Job Involvement).

Introduction

The teacher's duty is to have good relations with the students only then a teachers can understand them well. The relationship encourages/motivates the pupils to receive new knowledge in the class room. Hence he/she achieves the objective of the lessons being taught in the classroom.

The teachers should consider other members of the staff to be like a members of the same family because a teacher has to get a tangible or social support from his/her colleagues.

Principal is the leader of the social group. Now co-ordination is a component of good administration. Proper co-ordination keeps a check over any type of confusion in the school which is only possible if the teachers have good relation with the principal.

The Teacher can well understand the students if he/she has contacts with their parents. The relationship with parents is helpful for teachers to solve the problem of the students i.e. to provide remedial measures/teachings in the classroom.

Now these relationships can only be maintained if teachers are motivated i.e., desires of the teachers stimulate them to act. Now various needs of the teachers arouse their desires. Singh(2009) revealed a significant relationship($r=.20$ significant at .05 level) between Need for Social Affiliation and Conformity (Teacher Motivation) and Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents (Teacher Effectiveness)

Wassem (2003) found significant differences between the mean values of highly motivated teachers (321.46) and low motivated teachers (304.98) on teachers effectiveness variable. Coefficient of correlation between total scores of work motivation and teacher effectiveness was 0.28 (significant at 0.01 level).

Job Involvement of the teachers also play a significant role to achieve the classroom objectives. Ganihar(2005), in his study "Correlates of Effectiveness of Secondary Schools" found that teacher involvement has a significant correlation with teacher's quality work life, organizational health and parents involvement.

Now days teacher is overburdened with work i.e. he/she has to teach 36 periods per week. Every teacher has to attend to the register work, record registers, activities like games, co-curricular activities and also examination duties.

Lynda(2006), in her research paper "Teacher Block Living and Living With Stress" revealed that stress caused by feeling burdened by work pressure and demands are barriers to teacher effectiveness.

Claire Hages (2005), in his book "Stress Relief for Teacher (Coping Triangle)" explored that the best teachers can feel overwhelmed with pressure of the job and become prone to anxiety depression and anger. Coping strategies used by the teachers are proved to be helpful.

So, Motivation, Job Involvement, Stress and Coping Strategies play a significant role to achieve classroom objectives.

DEFINITIONS

An effective teacher may be understood as one who helps for the development of basic skills, understanding, proper work habits, desirable altitude, value judgment and adequate personal adjustment of the students (Rayan, 1969).

According to Waseem (2003), teacher's motivation to work may be thought of as an integrated force produced by some extrinsic and intrinsic or both motives driving the teachers to involve in their expected role of the schools.

According to Suslu(2006), motivation is some king of internal desire which pushes some one to do things in order to achieve some thing.

According to Chughtai (2008), Job Involvement is individual's psychological identification or commitment to his/her job.

According to (Lazarus and Folkman, 1984) stress is an event with a person's life that changes the normal course of events. Further according to them coping can be considered as transactional process between individuals and their environment, involving appraisals such as whether the situation or event is a threat, a challenge, or a loss and appraisals of what can be done. Once a person decides what can be done, coping strategies are implemented.

In the present study Mutha and Kumar (1976)'s teacher effectiveness scale was used. In this scale there are 11 dimensions of Teacher Effectiveness Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents is one of the dimensions of Teacher Effectiveness.

Further in the present study Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents is the dependent variable. Dimensions of Motivation, Job Involvement, Occupational Stress and Stress and Coping Strategies are independent variables.

STATEMENT OF THE PROBLEM

Motivation, Job Involvement, Stress and Coping Strategies as predictors of Relationship of Teachers with Pupils, fellow teachers, Principals and Parents Dimension of Teacher Effectiveness.

OBJECTIVE OF THE STUDY

To find Motivation, Job Involvement, Stress and Coping Strategies as predictors of Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher Effectiveness.

HYPOTHESIS

Some of the dimensions of the Motivation, Job Involvement, Occupational Stress and Coping Strategies are the predictors of Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher effectiveness.

METHODOLOGY OF RESEARCH

The study is descriptive by nature; survey through questionnaires was undertaken:

Sample:

The sampling technique was incidental by nature i.e. those schools were selected for the study which were readily available. Further, those teachers were included in the study who have shown their willingness to participate in the study.

Data were collected from 16 Senior Secondary Schools (Govt. and Private) of Jammu City. 153 Post Graduate Teachers participated in the study.

TOOLS

In the present study following tools were used:

- Srivastava (1998)'s Employees Motivation Schedule.
- Job Involvement Scale by Singh, Ashok Partap (1984).
- Occupational Stress Index by Srivastava and Singh (1994).
- Ways of Coping Questionnaire by Folkman and Lazarus (1988).
- Kumar and Mutha (1976)'s Teacher Effectiveness Scale was used to assess Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of teacher effectiveness.

STATISTICAL METHODS USED

Multiple regression technique was used to analyse data. All the predictors to be used are entered simultaneously, such that all of regression parameters are estimated simultaneously. The multiple models have considered which is referred as variable selection procedure investigator selected stepwise.

Following are the dependent and independent variables:-

Dependent Variable:

Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher Effectiveness.

Independent Variables (Predictors):

A) Dimensions of Teacher Motivation:

These are: Need for Personal Growth (M1); Need for Achievement (M2); Need for Self Control (M3); Need for Monetary Gains (M4); Need for Non-Financial Gains (M5); Need for Social Affiliation and Confirmation (M6); and Need for Autonomy and Self Actualization (M7).

B) Dimensions of Job Involvement:

Following are the Dimensions of Job Involvement:

Intrinsic Motivation (J1); Attachment to Work (J2); Fulfillment of Organization Goals (J3); Commitment to Work (J4); Internalization of Organizational Goals (J5); and Organizational Identification (J6).

C) Dimensions of Occupational Stress

Following are the Dimensions of Occupational Stress:

Role Overload (O1); Role Ambiguity (O2); Role Conflict (O3); Unreasonable Group and Political Pressure (O4); Responsibility for Persons (O5); Under Participation (O6); Powerlessness (O7); Poor Peer Relations (O8); Intrinsic impoverishment (O9); Low Status (O10); Strenuous Working Conditions (O11); and Unprofitability (O12).

D) Dimensions of Coping Strategies:

Dimensions of Coping Strategies are as following:

Confrontive coping (C1); Distancing (C2); Self Controlling (C3); Seeking Social Support (C4); Accepting Responsibility (C5); Escape Avoidance (C6); Planful Problem Solving (C7); and Positive Reappraisal (C8).

RESULTS AND DISCUSSIONS

Results of the study are presented in the following table:

Table -1 Summary of Stepwise Multiple Correlation on Regression Analysis for the variable Relationship of Teachers with Pnpils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher Effectiveness as dependent and dimensions of

Motivation, Job Involvement, Occupational Stress and Coping Strategies as independent variables.

Dependent Variable	Model	Independent Variable	Beta	R	R ²	SE	df ₁	df ₂	f	Sig.
Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents	1	Need for Social affiliation and Confirmation (M6)	.196	.196	.038	7.248	1	151	6.021	.01
Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents	2	Need for Social Affiliation and Commitment to Work (J4)	.203	.268	.072	7.145	1	150	5.796	.01

Above table shows that Need for Social Affiliation and Conformity (M6) was added to the first model. This variable contributed 3.8% { $R^2 = .038$ } to the Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher effectiveness of the Teachers.

Need for Social Affiliation and Conformity (M6) is the important sub variable of Teacher Motivation which has the largest contribution for the prediction of Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher Effectiveness. Desire of the teachers to have recognition in the society make them effective. The reason may be that desires of the teachers stimulates them to act. Teachers maintain good relations with students, fellow teachers, principles and parents which are helpful for teachers to provide remedial measures/teaching in the classroom.

In the next stage Commitment to Work (J₄) included along with the predictors of first model which contributed conjointly 7.2% { $R^2 = .072$ } to the Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension of Teacher Effectiveness. Particularly commitment to work (J₄) (Job Involvement) contributed 3.4% {7.2% – 3.8%} to the Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension i.e. if the Teachers give importance to the assigned work and maintains good relations with pupils, fellow teachers, principal and parents then they can achieve the classroom objectives in an effective way.

So out of 33 dimensions of four independent variables only 2 predictors were found. So the Hypothesis i.e. some dimensions of

Motivation, Job Involvement, Occupational Stress and Coping Strategies are able to predict Relationship of Teachers with Pupils, Fellow Teachers, Principals and Parents dimension got support with respect to Need for Social Affiliation and Confirmation (M₆) (Teacher Motivation) and Commitment to work (J₄) (Job Involvement).

Educational Implication

Parent Teacher Associations should be established in the schools. Some teachers associations as 'Science Teachers Association', 'English Teachers Association', etc. should also be established in the schools. Further position of a teacher and his/her services should be recognized by one and all. Number of the teachers selected for different awards should be increased.

REFERENCES

- Bhatnagar, Suresh and Saxena, Anamika (2001): Advanced Educational Psychology. Surya Publication, Meerut, pp.470-71.
- Brownele (2008): Coping with Stress in the Special Education Classroom, <http://findarticles.com>
- Chakrabarti Mohit (1998): Teacher Education: Modern Trends, Kanishika Publishers, New Delhi, (pp 10-30).
- Chughtai (2008): Impact of Job Involvement on Role Job performance and organizational citizenship behaviour. <http://www.ibam.com/>
- Claire Hages (2005): Strees Relief for Teachers(the coping triangle) <http://www.psychtherapyareena.com/>
- Elena – Silva (2008): Benwood Plan, A Lesson in Comprehensive Teacher Reform, Phi Delta Kappan, Vol.90, No.2, Oct. 2008. <http://www.Pdkint.org/>
- Folkman and Lazarus Richard (1988): Ways of Coping Questionnaire Mind Garden Palo Alfo, 1690 Wood Side Road, Suite 2002, Red Wood City California 94306 (424-493).
- Ganihar Noorhehan N. (2005), A study of Correlates of Effectiveness of Secondary Schools : Indian Educationla review, Vol. 41, 1 January 2005, NCERT. www.ncert.nic.in.
- Gmelch (1983). In Sinclair R. (1992), Morale, Satisfaction and Stress in Schools. <http://www2.Ed.&edtaacusyd>.

- Lazarus, R.S. & Folkman S. (1984): Stress, Appraisal and Coping. New York, Springer. <http://www.jstor.org/2006>.
- Lynda (2006): Teacher Block, Living and Living with Stress Research Matters, <http://www.mun.ca/researchreport> 2006.
- Mutha, D.N. and Kumar Promod (1976): Manual of Teacher Effectiveness Scale, Agra Psychological Research Cell Tiwari Kothi, Belangani, Agra.
- Rayan, D.G. (1969): Characteristics of Teachers, Delhi, Sterling Publications (P) Ltd.
- Rotenberry (2007): Management Resent News, Volume 30, Issue 3, Bramarick Publication. <http://www.emeraldinsight.com>
- Rotenberry (2007): Management Resent News, Volume 30, Issue 3. Bramarick Publication, 203-215. <http://www.emeraldinsight.com>.
- Saxena and Obroi (2001). Technology of Teaching, Surya Publication, Meerut (p.33).
- Singh, Ashok Pratap (1984): Manual Job Involvement. Abhishek Publication, Varanasi.
- Singh, Gursangat (2009): 'Motivation, Job Involvement, Occupational Stress and Coping Strategies as correlates of Teacher Effectiveness at Senior Secondary Stage in Jammu', a Ph.D. Education, Punjab University (Unpublished Thesis) (pp. 55-98).
- Suslu, Sebnam, (2006), Motivation of ESL Teachers. The internet TEST Journal, Vol. XII, January 2006 – <http://itsal.org/www.google.com>
- Srivastava (1998). Manual for Employee Motivation Schedule, Manovaigyanik Parikchan Sansthan, Varanasi.
- Srivastava, A.K., and Singh, A.P. (1994): Manual, The Occupational Stress Index: Manovaigyanik Parikshan Sansthan, Varanasi.
- Waseem Ahmad Khan (2003): Teaching Motivation. Discovery Publishing House, New Delhi, (pp.8-38).

ACID RAIN - THREAT TO LIFE

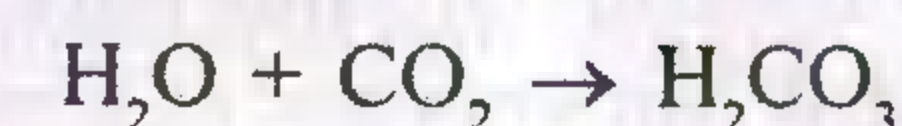
Dr. Puruima Kumari Varshuey

Associate Professor, Deptt. of B.Ed., Arya Mahila P. G. College, Varanasi.

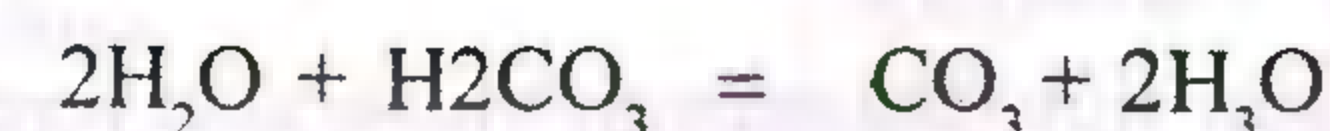
Rain is the part of hydrological cycles that operates in the biosphere and sustains all life and is essential for all living organisms. Many years ago, it was observed that at some places the rain water was not the pure form of water but it contained some amount of acids in it.

Acid Rain is commonly used to mean the deposition of acidic components in rain, snow, fog, dew or dry particles. The more accurate term is "Acid Rain is mostly caused by human emissions of sulphur and nitrogen compounds which react in the atmosphere to produce acids.

Clean or unpolluted rain is slightly acidic, its pH being about 5.6, because carbon dioxide and water in the air react together to form carbonic acid, a weak acid.



Carbonic acid then can ionize in water forming low concentrations of hydronium ions :



The extra acidity in rain comes from the reaction of primary air pollutants, primarily sulphur oxides and nitrogen oxides with water in the air to form strong acids like sulphuric and nitric acid. The main sources of these pollutants are vehicles and industrial and power-generating plants.

History

Since the Industrial Revolution, emissions of sulphur dioxide and nitrogen oxides to the atmosphere have increased Acid Rain was found in Manchester, England. In 1852 Robert Angus Smith found the relationship between acid rain and atmospheric pollution. Though acid rain was discovered in 1852, it was not until the late 1960s that scientists began widely observing and studying the phenomenon. Canadian Harold Harvey was among the first to research a "dead" deposition.

This occurs when particles and gases stick to the ground, plants or other surfaces.

Adverse effect of Acid Rain

Acid Rain has been shown to have adverse impacts on forests, freshwaters and soils, killing off insect and aquatic life forms as well as causing damage to buildings and having possible impacts on human health.

Surface waters and aquatic animals

Both the lower pH and higher aluminium concentrations in surface water that occur as a result of acid rain can cause damage to fish and other aquatic animals. As lakes become more acidic biodiversity is reduced. Acid rain has eliminated insect life and some fish species, including the brook trout in some Appalachian streams and creeks.

The EPA's website states :

"of the lakes and streams surveyed, acid rain caused acidity in 75 percent of acidic lakes and about 50 percent of acidic streams."

Soil

Soil biology can be seriously damaged by acid rain. Some tropical microbes can quickly consume acids but other microbes are unable to tolerate low pHs and are killed. The enzymes of these microbes are denatured by the acid.

Forest and other Vegetation

Acid rain can slow the growth-vulnerable forests and causes leaves and needles to turn brown and fall off. Adverse effects may be indirectly related to acid rain. High altitude forests are especially vulnerable as they are often surrounded by clouds and for which are more acidic than rain.

Other plants can also be damaged by acid rain. Acid rain dissolves the nutrients needed by plants and washes them away.

Human health

Some scientists have suggested direct links to human health, but none have been proven. However, fine particles, a large fraction of which are formed locally. Public awareness of acid rain in the U.S. increased in the 1990 after the New York Times promulgated reports from the *Hubbard Brook Experimental Forest* in New Hampshire of

Acid Rain - Threat to life

the myriad deleterious environmental effects that can result from it.

Occasional pH readings of well below 4 (the pH of Vinegar) have been reported in industrialized areas. This is a substantial problem in China, Eastern Europe, Russia, etc. down-wind from them. These areas all burn sulphur-containing fuels to generate heat and electricity. The problem of acid rain has increased with population and industrial growth, but has become more widespread.

Causes of Acid Rain

The principal natural phenomena that contribute to acid-producing gases to the atmosphere are emissions from volcanoes and those from biological processes that occur on land, in wetlands and in the oceans. The major biological source of sulphur-containing compounds is dimethyl sulphide.

The effects of acidic deposits have been detected in glacial ice thousands of years old in remote parts of the globe.

The principal cause of acid rain is sulphur and nitrogen compounds from human source, such as electricity generation, factories and motor vehicles. Coal power plants are one of the most polluting. The gases can be carried hundreds of kilometers in the atmosphere before they are converted to acids and deposited.

Acid Deposition

Wet deposition of acids occurs when any form of precipitation (rain, snow etc.) removes acids from the atmosphere and delivers it to the Earth's surface. This can result from the deposition of acids produced in the raindrops or by the precipitation removing the acids either in clouds or below clouds.

Acid deposition also occurs via dry deposition in the absence of precipitation. This can be responsible for as much as 20 to 60 percent of total acid from the same gases as acid rain, have been shown to cause illness and premature death such as cancer and other deadly diseases. It also makes breathing difficult and causes attacks of asthma and other respiratory problems. Inhalation of Nitrogen Oxides causes eye irritation, pulmonary congestion and other problems.

Other adverse effects

Acid rain can also cause damage to certain building materials and historical monuments. This is because the sulphuric acid in the rain chemically reacts with the calcium compounds in the stones (limestone, sandstone, marble and granite) to create gypsum, which then flakes off. The famous Taj Mahal in India and the Parthenon in Greece have been adversely affected by Acid rain.

Prevention method

In the United States, many coal-burning power plants use Flue gas desulphurization (FGD) to remove sulphur. Containing gases from their stack gases. In some areas the sulphates are sold to chemical companies as gypsum when the purity of calcium sulphate is high.

Automobile emissions control reduces emissions of nitrogen oxides from motor vehicles.

A number of international treaties on the long range transport of atmospheric pollutants have been agreed e.g. Sulphur Emissions Reduction Protocol under the convention of Long-Range Transboundary Air Pollution.

A more recent regulatory schemes involves emissions trading. In this Scheme, every current polluting facility is given an emission License that becomes part of capital equipment. Operators can then install pollution control equipment and sell parts of their emissions Licenses. The intention of this is to give operators economic incentives to install pollution controls. With all this damage, why do we still produce so much pollution and continue tolerating acid rain?

References

- www.web-guide.org
- www.wikipedia.com
- likens. G.E and F.H. Bormann 1974
- Acid rain : a serious regional environmental problem science.

POLITICAL & COMMUNAL UNREST IN ATTIA HOSAIN'S NOVEL "SUNLIGHT ON A BROKEN COLUMN"

Dr. Vipin Vihari Singh

*Lecturer in English Deptt., Mahendra Technical Inter College,
Chandauli.*

Attia Hosain's *Sunlight on a Broken Column*, (1979) deals with India's struggle for independence and proceeds to present the ironic reward of this struggle. It depicts the ugly acts of communal violence, shows how the light of the Indians against the British people turned into the fight among themselves, tries to diagnose the malady of this dire offence the partition and its indescribable consequence. It is the first novel by a Muslim lady on the theme of the partition and the tragedy that swept people in its wake. It presents a perspective on the partition deferent from other novels. It represents, for the first time, the Muslim point of view. The novel expresses a feeling of guilt and sorrow because the originating impulse for the partition came from the Muslims. Yet Attia Hosain makes an impartial survey of the whole situation. The Hindus are praised for saving the Muslims from the cruel violence. Similarly, the two important members of the elite Muslim family Kemal and Asad are the figures of pride. They stay behind in India and inspite of suspicious looks take India to be their home.

Attia Hosain's *Sunlight on a Broken Column* presents the partition as the enormous event it was and its effects on the lives of the Muslims in India. The novel runs into four parts and covers a period of some twenty years in the life of Laila, the narrator-heroine. It is perhaps the only novel on this great event written by a Muslim girl living in India. Laila is a orphaned daughter of a wealthy and distinguished Muslim family. She grows up during the thirties when the political struggle for freedom is sharpening. All people round her take active part and interest in politics. But She is unable to commit herself whole-heartedly to any cause; her own struggle for independence is a struggle against

the claustrophobic traditions of family life, from which she finally breaks away when she falls in love with a student, Ameer.

'Ashiana', the name of Laila's house is a symbolic one. 'The nest', as its name suggests, shows that the Muslims had made India their home. The novel shows, in detail, the traditional way of life among the Muslims in India. The people described are deeply rooted in the soil. It is a time of great political upheaval. There are clear-out glimpses of the early struggle for freedom. The Muslims in the vein of true nationalism come out on the streets, follow Gandhi's non-violence and shout for freedom. Parades and processions become a common feature on the streets of Lucknow. The novel describes how a Muslim household is affected by this freedom struggle. Asad is an important disciple of non-violence. He is an active participant in processions. The enthusiastic young men and girls give slogans in full throated chorus. The writer describes the enthusiasm of the people in full detail :

Then the road was alive with defiant, determined young people. The sound of their marching feet and angry voices was surging sea, a roaring tempest. In the forefront was a group of girls.....

Attia Hosain points a vivid picture of this early struggle for freedom. She, then, describes how this united struggle degenerated into a communal one. The whole trouble started when religion entered politics. The shrewd eyes of the woman novelist finds the British hand in the game of divide and rule.

Attia Hosain shows that the British had a hand in dividing the Indians, but the responsibility of the division cannot be wholly theirs. The tragedy of partition happens through the advent of religion into politics. The division becomes clear when the communal Muslims levelled grave charges against the Congress that was termed as a purely Hindu organization. It was declared that the policies and programmes of the congress were deceptive and a great fraud. The novelist criticises the Muslim League to scatter the communal feelings in the country. In the Novel Saleem, who represents Muslim League, prepares a ditch between Hindu and Muslim. The leaders of all parties have been held responsible for the savage acts of cruelty.

The fourth part of the novel covers a critical period of Indian history-communal violence and the partition of the country. This part

shows the effect of the partition on the members of a family for from the Punjab. She powerfully depicts the people of the Punjab in flight, leaving their homes behind in search of a homeland. She also, refers to the great atrocities and massacre that took place at that time. The novel portrays the impact of the partition on the members of a family safely and quietly lodged in a nest 'Ashiana' at Lucknow for away from the streams of blood.

The partition brought in its wake new laws and the harassment by the officers. The Muslims who had left for Pakistan were declared 'evacuees' and their property declared 'evacuee property' to be taken over by a custodian. The writer points out this corrupt aspect when she tells about Kemal : He was grateful he had not been harassed as so many others had been by petty officials who ordered humiliating searches of houses and lengthy cross examinations.²

The novelist depicts the character of Nadira, whose devotion to the tortured and the oppressed highlighted the horrors of the partition. The plight of the poor Muslims who ran away to Pakistan has been excellently suggested when the writer tells about Nadira's activities.

'She had become a selfless social worker among the pitiable refugees who had swarmed across the border in their millions, and had devoted herself to the service of unhappy victims of rape, assault and abduction.'³

The description of a refugee who lost his family in the riots is heart-rending. His unhappy experience developed in him hatred for all Muslims and led him to call all Muslims 'traitors'. These incidents bring to light the tragedy that was enacted on the both sides of the border.

Laila know the fear of violence, murder, rape and mutilation. She criticises the Muslims who vomited hate against the Hindus. Laila defends and praises the Hindus for saving the Muslims. She scoffs at the Muslim leaders who fanned hatred and violence and ran away to safety on the other side of the border leaving their followers behind. She tells Zahra : 'Do you know who saved all the others who had no Sitas and Ranjits? Where were all their leaders ? Safely across the border. The only people left to save them were those very Hindus against whom they had ranted. Do you know what 'responsibility' and 'duty' meant ? To stop the murderous mob at any cost, even if it meant shooting people of their own religion'.⁴

The Muslim writer praises the Hindus for their sense of 'responsibility' and 'duty'. She remains unprejudiced, and does not take sides. She passionately believes in friendship and tolerance. This maintaining of a complete balance between the violence and mercy of the two communities is an excellent achievement of the writer. The changes, brought about by the partition has also absorbed the attention of the novelist. Violence in the train has been pathetically portrayed in the novel.

In short, Attia Hosain in *Sunlight on a Broken Column* maintains an admiring impartiality, showing that the participation in the national movement for freedom had no communal considerations; the Hindus and the Muslims worked together. She regrets, with a sense of guilt, the induction of religion into politics. It was this development that poisoned the minds of the millions and Saleem was one of them. This led to the fabulous rise and popularity of the Muslim League, to the split among the Muslims - secular Muslims and the Leaguers -- and ultimately to the division of the country. The victims of rape, Murder, abduction, fire and arson have been graphically depicted. The tremendous changes caused by the partition, the new terms and sights like 'refugee' and 'evacuee', the change of language and manners, the rise of new colonies, the air of hatred and violence all these things find emphatic expression in this novel. In fact, the novelist does not commit herself to any religion. She criticises the Muslim leaders for exciting hate, anger and violence and for running away to Pakistan leaving their co-religionists behind to the mercy of the angry Hindus. She praises the Hindus who saved the lives of their Muslim friends at great personal risk. In the same breath, she praises the good humanitarian work carried out on the other side of the border. The horror of the partition, the train-tragedies, the pathetic sights of the homeless million, the heart-rending condition of innocent children whose fathers were killed and mothers raped, the sight of the refugee who lost family in the riots and Zahid's murder--all these things common on both the sides of the border catch the attention of the writer. But the novel does not concentrate on the Punjab the scene of hectic activities of those days. It studies the psychology of the Muslim home that suffered the pangs of the partition in Lucknow. A beautiful home 'Ashiana', the nest, was ruined by the partition. The division of the country led to the division of a Muslim house. Saleem

and Nadira, who saw in the initial stages the Islam Renaissance in the creation of Pakistan, opted for the new country of their ideals. Kemal took India to be his mother land. Asad, too, though a victim of the partition, remained in India and took active part in politics. Laila, the objective narrator, surveyed the deserted nest, remembered her days spent there, felt what a change was brought about by the partition and the abolition of Zamindari, recapitulated the scene in the house that ultimately brought the parting of ways of its different members and meditated on its impact. It is, indeed, a very powerful novel that makes the readers feel the great tragedy of partition which is the result of the dire events of political and communal unrest that took place in the different parts of the country.

References

- (1) Attia Hosain, *Sunlight on a Broken Column*, (1979) P.A.
- (2) *Ibid*, p. 278.
- (3) *Ibid*, p. 300.
- (4) *Ibid*, p. 304.
